ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणामभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ॥

(पण्डितराज जगन्नाथ)

वर्ष २९ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०११, मार्च १९५५ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ३४०

भगवान् श्रीराघवेन्द्रका सौन्दर्य

देखौ, राघव-बदन बिराजत चारु ।
जात न बरनि, बिलोकत ही सुख, मुख किधौं छबि बर नारि सिंगारु ॥ १ ॥
रुचिर चिबुक, रद-ज्योति अनूपम, अधर अरुन सित हास निहारु ।
मनो ससिकर बस्यो चहत कमलं महँ, प्रगटत, दुरत न बनत बिचारु ॥ २ ॥
नासिक सुभग, मनहु सुक सुंदर, चितवत चकि आचरज अपारु ।
कल कपोल, मृदु बोल, मनोहर रीझि, चित चतुर, अपनपौ वारु ॥ ३ ॥
नयनसरोज, कुटिल कच, कुंडल, भ्रुकुटि, सुभाल तिलक सोभा-सारु ।
मनहु केतु के मकर, चाप-सर गयो बिसारि भयो मोहित मारु ॥ ४ ॥
निगम, सेष, सारद, सुक, संकर बरनत रूप न पावत पारु ।
तुलसिदास कहै, कहौ धौं कौन बिधि, अति लघुमति जड़ कूर गँवारु ॥ ५ ॥

याद रक्खो—सच्चा मानव वही है, जिसमें मानवता हो। मानवताका प्रधान स्वरूप है—जीवनका भगवान्‌के अभिमुख होकर यथार्थ आत्मकल्याणकी ओर अग्रसर होना। नहीं तो, पशु और मनुष्यमें कोई अन्तर नहीं है। खाना, सोना, डरना, स्त्री-पुरुषका मिलना, क्रोध करना—ये सभी बातें जितनी मनुष्यमें हैं, उतनी ही पशुमें भी हैं। मनुष्यमें केवल एक यही विशेषता है कि वह अपने कल्याणकी बात सोच सकता है, आत्म-कल्याणके साधन कर सकता है और आत्मकल्याणको प्राप्त कर सकता है। जो इस विवेकसे रहित है, वह तो मनुष्यके रूपमें पशु ही है।

याद रक्खो—मनुष्यमें भगवान्‌की दी हुई बुद्धि-शक्ति है और उसको नवीन कर्मके सम्पादनका अधिकार प्राप्त है। इस बुद्धिशक्ति और कर्माधिकारका सदुपयोग करके वह महामानव, देवता ही नहीं—परमात्म-स्वरूपको प्राप्त कर सकता है, जो मानव-जीवनका परम ध्येय है। परंतु उसी बुद्धिशक्तिका यदि वह विपरीत दिशामें प्रयोग करता है तो उसके द्वारा विपरीत कर्म बनते हैं और वह असुर बन जाता है। फिर वह अपनी जघन्य आसुरी क्रियाओंसे प्रतिपल संसारके प्राणियोंका घोर अहित करके उनको भयानक दुःख पहुँचानेमें कारण बनता है। फलतः उसे भगवत्प्राप्ति या आत्मकल्याणकी प्राप्ति नहीं होती।

याद रक्खो—ऐसा असुर-मानव भोगोंकी प्राप्ति और उपभोगको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाकर उनके लिये अविराम प्रयत्न करता है और जीवनके अन्तिम क्षण तक अनन्त चिन्ताओंसे ग्रस्त हुआ वह असत्-आचरणोंमें लगा रहता है। इससे उसका मानव-जीवन सर्वथा व्यर्थ ही नहीं होता, वह बार-बार घृणित आसुरी योनिको और उससे भी अत्यन्त अधम नारकी गतिको प्राप्त होता है, उसके लिये मानव-जीवन उद्धारका हेतु न बनकर घोर अभिशाप बन जाता है। यह मनुष्य-जीवनकी अत्यन्त दुःखदायिनी असफलता है। जो उसका दुरुपयोग करनेके कारण प्राप्त होती है।

याद रक्खो—तुम संसारमें एक ही महान् कार्य करनेके लिये आये हो, जो अबतक किसी भी योनिमें सम्पन्न नहीं हुआ। वह महान् कार्य है भगवत्प्राप्ति और तुम उसके पूर्ण अधिकारी हो। पर तुम अपने जीवनके इस परम पवित्र उद्देश्यको भूलकर उन प्राणि-पदार्थोंके पीछे पागल हो रहे हो जो अन्तमें तुम्हें धोखा देंगे, तुम्हें उन सबको छोड़कर यहाँसे अकेले चला जाना पड़ेगा। फिर सिवा पछतानेके तुम्हारे हाथमें कोई भी उपाय नहीं रह जायगा।

याद रक्खो—तुम्हारे जीवनका भगवत्प्राप्ति ही परम ध्येय है। इसलिये तुम अपना प्रत्येक काम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करो। निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने प्रत्येक कर्मसे भगवान्‌की पूजा करो। कर्म करो सुचारु रूपसे, कहीं चूको मत। आलस्य या प्रमादसे कर्मका स्वरूप मत बिगाड़ो। पर करो केवल भगवान्‌के लिये ही। भोगोंकी आशा-आकाङ्क्षाको मनसे निकाल दो।

याद रक्खो—भगवान्‌के लिये होनेवाले कर्म वही हैं, जिनमें आसक्ति नहीं है, जिनमें भोगकामना नहीं है, जिनके अनुकूल अथवा प्रतिकूल फलमें समबुद्धि है और जिनके द्वारा संसारके किसी भी प्राणीका कोई अहित नहीं होता एवं किसीके भी सुखका नाश नहीं होता।

याद रक्खो—जिन कर्मोंसे दूसरे प्राणियोंका अहित होता है या उनके सुखका नाश होता है, वे कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये नहीं होते। उनसे तुम्हें कभी परिणाममें सुख नहीं मिलेगा। जो मनुष्य दूसरोंके सुखका नाश करके सुखी होनेकी आशा करता है, वह बड़ा ही अभागा है। ऐसे कर्मोंसे भगवान्‌की अप्रसन्नता और परिणाममें असीम दुःखोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये सब प्राणियोंमें नित्य निरन्तर भगवान्‌को देखते हुए उनकी हितभरी सेवाके द्वारा भगवान्‌की पूजा करो। अपने मानव-जीवनके लक्ष्यको कभी मत भूलो और शरीर छूटनेसे पहले ही उसे प्राप्त करके मानव-जीवनको सफल बना लो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[वर्ष २८ के पृष्ठ १४४९ से आगे]

(३८)

जबतक साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी उलझन या कठिनाई मालूम हो, तबतक समझना चाहिये कि चित्तमें किसी-न-किसी प्रकारकी अशुद्धि है।

जबतक मनुष्य पराधीन रहता है, अपनी कामनाकी पूर्ति दूसरोंसे चाहता है, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

संतोंका कहना है कि जब मनुष्य आजाद (स्वाधीन) हो जाता है, तब खूँखार शेर उसे गोदमें ले लेता है; वृक्ष उसे फल देने लगते हैं। भाव यह कि चाहरहित मनुष्यको सब वस्तुएँ अनायास अपने-आप प्राप्त होती हैं।

साधकको चाहिये कि या तो सभीको अपना समझे या किसीको अपना न समझे। ये दोनों ही साधन हैं। सबको अपना समझनेवाला सबसे समान प्रेम करता है। प्रेममें देना-ही-देना रहता है। किसीसे कुछ लेनेकी भावना नहीं रहती। अतः सब प्रकारसे प्राप्त-शक्तिके द्वारा सबका हित करना, उस शक्तिको उनके हितमें लगा देना और बदलेमें उनसे कुछ लेना नहीं, यही सबको अपना समझना है। एवं सबसे असङ्ग हो जाना ही अपना न समझना है।

जो दूसरोंसे कुछ लेनेके लिये अपना समझता है, वह कभी गुलामीसे नहीं छूटता। जिस-जिस भोगको वह चाहता है, उस-उसका गुलाम बन जाता है। अतः स्वाधीन नहीं हो पाता और उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है। चित्तकी शुद्धिके लिये क्षमाकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतः साधकको क्षमाशील होना चाहिये। जब कभी उसे मालूम हो कि मेरे कारणसे किसीको कष्ट हुआ है, मुझसे किसीके प्रतिकूल व्यवहार हो गया है, तो तुरंत उससे क्षमा माँग ले। यदि अपनी गलतीका भास कालान्तरमें हो तो मनसे क्षमा माँग ले और पुनः वैसी गलती न करनेका दृढ़ संकल्प कर ले। इससे साधकमें निर्दोषता आती है।

यदि किसी दूसरेका व्यवहार अपने प्रतिकूल हो तो तत्काल ही उसे क्षमा कर दे। अपने मनमें यह भाव ही न रहने दे कि उसने कोई अपराध किया है, ताकि उससे बदला लेनेकी भावना कभी भी उत्पन्न न हो। यह भाव रक्खे कि सरकारसे या ईश्वरसे भी उसको किसी प्रकारका दण्ड न मिले, बल्कि ईश्वरसे यह प्रार्थना करे—इसकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिये ताकि यह अन्य किसीके साथ बुरा व्यवहार न करे। इससे साधकमें वैर-भाव मिट जाता है।

जो स्वयं दुखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। जिसके पास जो वस्तु होगी वही तो देगा। जिसके पास दुःख है ही नहीं, वह कहाँसे देगा। दुखी प्राणी हर प्रकारसे दयाका पात्र होता है। अतः क्षमाशील साधक कभी किसीपर क्रोध या द्वेष-भाव नहीं करता। उसे तो किसीका अपराध दीखता ही नहीं। वह तो दुःखका हेतु अपनी बेसमझीको मानता है।

जो क्षमाशील साधक अपनी गलतीके लिये दूसरोंसे क्षमा माँगकर और पुनः गलती न करनेका संकल्प करके निर्दोष हो जाता है तथा अपने प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसका दोष न मानकर

वैर-भावसे रहित हो जाता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है ।

आजकल जब किसीके मनके विपरीत काम होता है तो उसको क्रोध आ जाता है । यदि कोई कहे कि क्रोध नहीं करना चाहिये तो कहते हैं कि क्रोध किसको नहीं आता ? क्या मैं महात्मा हो गया ? मैं तो गृहस्थ हूँ········इत्यादि । यदि उनसे पूछा जाय कि 'आप महात्मा क्यों नहीं बन गये ? किसने मना किया था ? मनुष्य ही तो महात्मा होते हैं !' तो इसका कोई उत्तर नहीं है । ऐसे प्राणियोंका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता ।

जो मनुष्य भगवान्‌की प्रकृतिको अपनी मानकर उससे भोगवासनाकी पूर्ति चाहता है, उसके साथ प्रकृति उदारताका व्यवहार नहीं करती । उसको तो वह उसके कर्मानुसार न्यायोचित फल देती है । उसपर प्रसन्न नहीं होती, बल्कि क्रोध करती है । जैसे किसी सती स्त्रीको कोई अपनी समझकर उससे भोगकी चाह करे तो वह क्या करेगी ? क्या उसको शाप नहीं देगी ? इसी प्रकार ही प्रकृतिके बारेमें समझ लेना चाहिये । परंतु जो प्रकृतिको अपने प्रभुकी समझता है, उससे किसी प्रकारका भी भोग नहीं चाहता, उसपर प्रकृति-माता प्रसन्न होकर जैसे कोई माता अपने पुत्रका पालन करती है, उसी प्रकार उसका पालन-पोषण करती रहती है । यही कारण है कि चाहरहित साधकको कभी अभावका भास नहीं होता ।

किसीको यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पतनका कारण प्रारब्ध है; क्योंकि प्रारब्ध किसीके पतनका कारण नहीं होता । विवेकका अनादर करनेसे और प्राप्त बलका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यका पतन होता है ।

जो मनुष्य अपने दोषकी ओर ध्यान न देकर दूसरोंको दोषी मानता है और इस खयालसे कि यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते, एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरोंसे सुख चाहनेवाले मनुष्यका कोई भी आदर नहीं करता । जैसे कोई बेवकूफ हो और सभी लोग उसे बेवकूफ कहने लगें एवं उस अपमानसे बचनेके लिये वह कहीं अपरिचित स्थानमें चला जाय, वहाँ जाकर कहीं जमीनके खड्डेमें बैठकर भोजन करे और इस खयालसे इधर-उधर देखता रहे कि कोई दूसरा देख न ले, कोई मुझे बेवकूफ न समझ ले । इस परिस्थितिमें उसे देखनेवाले उससे कहें कि 'अरे बेवकूफ ! यहाँ क्या कर रहे हो ?' तो वह क्या समझेगा । वह मनमें यही समझेगा कि यहाँ लोगोंने मुझे पहचान लिया । कहनेका भाव यह है कि जबतक उसमें बेवकूफी बनी रहेगी, वह कहीं भी किसीसे छिपी नहीं रहेगी । इसी प्रकार जबतक मनुष्य अपने दोषको स्वयं नहीं मिटा लेगा, तबतक कहीं भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी ।

इसलिये साधकको चाहिये कि जब जहाँ जो परिस्थिति प्राप्त है उसका सदुपयोग करे । ऐसा करनेसे उसकी उन्नतिका मार्ग अपने-आप खुल जाता है । और उसकी उन्नतिके लिये जब जैसी परिस्थिति आवश्यक होती है, अपने-आप अनायास प्राप्त हो जाती है । जब भगवान् उसका एकान्तवास आवश्यक समझते हैं तो वैसी ही परिस्थिति पैदा कर देते हैं ।

साधकके लिये सबसे अच्छा जीवन वही है जब हृदयमें निरन्तर प्रेमकी गङ्गा लहराती रहे । अहं—अभिमानसे सर्वथा शून्य हो, किसी प्रकारकी चाहका उदय न हो, तथा जीवन सब प्रकारसे पूर्ण और अनन्त हो ।

जीवन बदल जाना साधकका दूसरा जन्म है। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर जो द्विज कहा जाता है उसका यही भाव है कि वह उसका नया जन्म है। अर्थात् उसे वेदके ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार किसी प्रकारकी दीक्षा देकर उसके अहंको बदल देना, गृहस्थसे वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण कर लेना भी दूसरा जन्म माना जाता है; क्योंकि उससे उसका अहं परिवर्तित होता है।

जब सब प्रकारके दोषोंका अभाव होकर चित्त शुद्ध हो जाय तो साधकको समझना चाहिये कि मैं अब पहलेवाला नहीं हूँ। मेरा यह दूसरा जन्म है। परंतु उसमें भी योगके, बोधके या प्रेमके अभिमानका भास नहीं होना चाहिये।

प्रेमी भक्त भगवान्से अपने उद्धारकी कामना भी नहीं करता। वह तो सर्वथा निष्काम रहता है।

(३९)

प्रश्न–भगवान्को अवतार क्यों लेना पड़ा ?

उत्तर–भगवान्को अवतार लेना पड़े ऐसी बात भगवान्में नहीं होती; क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र हैं।

भगवदवतारके शास्त्रोंमें तीन हेतु बतलाये जाते हैं—(१) साधुओंका परित्राण, (२) दुष्टोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना। इनमेंसे दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान्के अवतारमें खास कारण होते तो इस समय भी भगवान्का अवतार होना चाहिये था। धर्मका ह्रास इस समय कम नहीं है और दुष्टोंकी भी कमी नहीं है। परंतु उनकी लीलापर विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्का अवतार अपनी रसमयी लीलाके द्वारा भक्तोंको रस प्रदान करनेके लिये और स्वयं उनके प्रेमका रस लेनेके लिये ही होता है। धर्मकी स्थापना और दुष्टोंका विनाश तो उसका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तरसे साधुओंका हित भरा रहता है।

साधु पुरुष वही है जो भगवान्को प्राप्त करना चाहता है। अपने जीवनको भगवत्परायण बनानेकी साधनामें लगा रहता है। किसी प्रकारका भेष बना लेनेका नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, साधु पुरुषोंके घरोंमें लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके अवतारपर ही विचार कीजिये। उनका प्राकट्य वसुदेवजीके घरमें और माता देवकीके उदरसे हुआ। जो स्वयंप्रकाश और सर्वत्र बसनेवाला है उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्मविद्याका नाम देवकी है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधुपुरुषोंके घर जन्म लेते हैं, जो सर्वथा विशुद्ध और तत्त्वज्ञानी हैं। परंतु उसको अपनी लीलाका—अपने प्रेमका रस प्रदान नहीं करते। अपनी प्रेममयी लीलाका रस प्रदान करनेके लिये आप माता यशोदाकी गोदमें पधारते हैं। जो यश यानी प्रेम-रसका प्रदान करे उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्दका ही दूसरा नाम 'नन्द' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी प्रेममयी लीलाका रस प्रदान करके और उनके प्रेमरसका स्वयं आस्वादन करके उन भक्तोंको आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिये पूरा नहीं हो सकता।

भगवान्की एक-एक लीलामें अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीलामें बहुतोंकी लालसा पूरी करते रहते हैं। उनकी प्रेममयी लीलाका रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान् नहीं समझ पाते। औरोंकी तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्माजीको संदेह हो गया।

भगवान् अघासुरको मुक्त करके वन-भोजन करनेके लिये अपने बालसखाओंके बीचमें बैठकर भोजन करने लगे तो उस लीलाको देखकर ब्रह्माजी चकित हो गये । वे सोचने लगे कि 'साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालोंके बालकोंकी जूँठ खा सकते हैं ? यह क्या ? एक बालक अपनी वस्तु दूसरेको देता है, वह अपने घरसे लायी हुई वस्तु दूसरेको देता है ।' इस मोहमें पड़कर उन्होंने भगवान्की परीक्षा करनेके लिये बछड़ोंको उठाया । इधर बालकोंका मन भगवान्से हटकर बछड़ोंकी ओर गया । वे बोले, 'घासके लोभसे बछड़े दूर चले गये हैं, दिखलायी नहीं देते ।' भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी औरको देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाय । अतः उन्होंने सखाओंसे कहा—'मित्रो ! तुमलोग यहीं रहो, मैं अभी बछड़ोंको ले आता हूँ ।' श्यामसुन्दर उधर गये कि ब्रह्माजीने उन बालकोंको बेहोश करके वहाँसे उठाया और पर्वतकी गुफामें रख आये । भगवान्से मन हटते ही ग्वाल-बालोंको एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा । इधर गायें तथा गोप-गोपियोंके मनमें यह लालसा बढ़ रही थी कि कभी वे दिन आयेंगे कि श्यामसुन्दर यशोदा मैयाकी भाँति हमारे स्तनोंका दूध पान करेंगे, उसी प्रकार हमारी गोदमें खेलकर अपनी प्रेममयी बाललीलाका रस प्रदान करेंगे । उनकी उस लालसाको पूर्ण करनेके लिये भगवान् स्वयं बछड़े बने और गायोंको प्रेम-रस प्रदान किया एवं उनका प्रेम-रस दुग्धके रूपमें पान किया । गोप और गोपियोंकी गोदमें खेलकर उनको पुत्र-स्नेहका रस प्रदान किया । एक वर्षतक वे उस मधुर प्रेमरसका आस्वादन करते रहे । उसके बाद जब ब्रह्माजीने देखा कि व्रजका काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर तो पहलेकी भाँति ही उन ग्वाल-बालोंके साथ भोजन कर रहे हैं और खेल कर रहे हैं और जिनको मैं चुरा लाया था, वे सब गुफामें सो रहे हैं, तब विचार करते ही उनको भगवान्की अचिन्त्य महिमाका कुछ दर्शन हुआ तो उनका समस्त अभिमान गल गया । भगवान्के चरणोंमें मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान्की स्तुति की । परंतु भगवान् उनसे बोलेतक नहीं । एक ही लीलामें भगवान्ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्यका प्रदर्शन किया । यह काम बिना अवतारके कैसे हो सकता था । एक ओर ब्रह्माके अभिमानका नाश, उसीके साथ-साथ ग्वाल-बालोंको चेतावनी और गायोंकी एवं गोप-गोपियोंकी प्रेम-लालसा-की पूर्ति । यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है ।

इसके पहले जब भगवान् श्यामसुन्दर छः दिनके हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुताका भाव दिखाया था । पूतना, जो कि घोर पापिनी और बालकोंका नाश करनेवाली थी, जब सुन्दर धायका कपट वेष बनाकर भगवान्के पास गयी एवं मनमें दूषित भाव रखकर ऊपरसे प्रेमका भाव दिखाकर उनको गोदमें उठा लिया और अपना स्तन श्यामसुन्दरके मुखारविन्दमें दे दिया, तब भगवान्ने उसके मातृ-स्नेहकी रक्षा करनेके लिये तो उसका दूध पीया और वह उनके प्राण लेनेके लिये आयी थी, इसलिये दूधके साथ-साथ उसके प्राण भी पी गये । भगवान्के स्पर्शसे उसका कपट नाश हो गया । वह अपने असली रूपमें आ गयी । सारे शरीरमें सुगन्ध हो गयी । भगवान् उसके शरीरपर खेलने लगे और उसे माताकी गति प्रदान की । इस प्रकारकी लीला भगवान् बिना अवतारके कैसे कर सकते थे ।

इसी प्रकार उनकी हरेक लीलामें अनन्त रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है । उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं ।

भगवान्‌का अवतार नित्य है। उनका लीलाधाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेमसे ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें भौतिक भाव नहीं रहता।

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका आज भी उनकी दिव्य लीलामें प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम-रसका आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान्‌का अवतार नहीं होता तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान् अवतार लेते हैं, उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवादको जबर्दस्ती मानें तथा उनके न माननेका कोई आश्चर्य भी नहीं है; क्योंकि अपनी मान्यताके लिये सभी स्वतन्त्र हैं।

(४०)

आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधन-का फल लेना चाहते हैं। तब उनको सफलता कैसे मिले? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो कोई दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे ताकि हमें उसका सुख मिल जाय। जैसे गाछ तो कोई दूसरा लगा ले और उसके फल वह खाना चाहे, जिसने गाछ लगाते समय कुछ नहीं किया। तो ऐसा होता नहीं। साधनकी सफलताके लिये साधकको स्वयं साधन करना पड़ेगा। उसे साधनको ही अपना जीवन मानना पड़ेगा। ऐसा करनेसे ही वह कृतकार्य हो सकता है।

जो मनुष्य सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होना चाहता हो, उसे विचार करना चाहिये कि बन्धन क्या है। विचार करनेपर मालूम होगा कि भोगोंकी वासना, उनको प्राप्त करनेका संकल्प, उनका सम्बन्ध और चिन्तन, ये सब कहीं बाहरसे नहीं आये हैं। अपने ही प्रमादसे, अपनी ही असावधानीसे अपने अंदर उत्पन्न हो गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है। अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है।

बन्धनोंको काटनेके लिये अर्थात् उनसे मुक्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाह-का त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय।

शरीरको मैं माननेसे और उससे सम्बन्ध रखनेवालों-को अपना माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन-जिनसे मनुष्य अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिके कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं तथा अपनेको शरीर मानकर ही मनुष्य उनके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। वास्तवमें तो भोगोंका परिणाम रोग है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारके बन्धनोंका कारण एकमात्र अपनेको शरीर मान लेना है। अतः साधकको चाहिये कि अपनेको देहसे सर्वथा भिन्न समझकर सब प्रकारकी भोगवासनाका परित्याग कर दे।

भोग-वासनाका अर्थात् सब प्रकारकी चाहका परित्याग करनेके लिये संकल्पोंको मिटा देना आवश्यक है। अतः साधकको चाहिये जो आवश्यक संकल्प हों उनको पूरा करके मिटा दे और जो अनावश्यक हों उनका त्याग करके मिटा दे। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्ति आती है एवं चित्त शुद्ध और स्थिर होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है।

नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुखी कर दिया है। भोगोंके वास्तविक स्वरूपको जानकर, उनकी

उत्पत्तिके कारणको मिटानेकी कोशिश करनेपर और बार-बार उनका निरीक्षण करके त्याग करते रहनेपर संकल्पोंकी उत्पत्ति रुक सकती है। इसलिये साधकको निराश नहीं होना चाहिये।

साधकको चाहिये कि संकल्पके निवृत्तिकालमें जो उसे रस मिलता है उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाय और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीचमें ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर संकल्प-निवृत्तिके रसका अनुभव हो सकता है।

चेष्टा करनेपर भी संकल्प नहीं रुकते। इसका कारण यह है कि संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं है और उनकी पूर्तिमें सुख माल्म होता है। अतः साधकको चाहिये कि संकल्पोंका परिणाम दुःख है, यह समझकर उनकी निवृत्ति न होनेतक उनके दुःखसे व्याकुल हो जाय। और उनकी पूर्तिके सुखका रस न ले। जिनको वर्तमान स्थितिमें संतोष नहीं होता, गहरा दुःख होता है, उनका ही परिवर्तन होता है।

विचार करनेपर साधकको माल्म होगा कि एक-एक चाहको उत्पन्न करनेके लिये अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं। और एक-एक संकल्पकी पूर्तिके लिये अनेक इच्छाएँ होती हैं एवं चाह और संकल्प मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। इस रहस्यको न समझनेके कारण ही मनुष्यको संकल्पोंकी उत्पत्तिका दुःख नहीं होता और उनको मिटानेके लिये तत्परतापूर्वक साधन नहीं होता।

संकल्पोंका अन्त होनेसे चाहकी निवृत्ति होगी। चाहकी निवृत्ति ही चित्तकी शुद्धि है। चित्त शुद्ध होते ही साधकको बोध प्राप्त हो जाता है। उससे उसके सब प्रकारके दुःखोंका नाश हो जाता है। और उसके बाद जो भक्ति उत्पन्न होती है उससे अनन्त रस मिलता है। अतः साधकको संकल्पोंका समूल नाश करनेके लिये साधनमें तत्पर हो जाना चाहिये।

मैं जान गया बस मान गया

(रचयिता—श्रीदेवचन्द्र वर्मा 'इयारण')

मैं जान गया बस मान गया।
भूला-भटका, सीखा-समझा, उरका मिथ्या अभिमान गया॥
मैं जान गया बस मान गया॥

है भरा स्वार्थमें सारा जग,
निद्रित प्राणी हों आज सजग,
दुनियाँका नाता सब झूठा
ऋषियोंकी वाणी मान गया।
मैं जान गया बस मान गया॥

इस जगकी संपूर्ण विजय भी निश्चित हार तभी जानी।
जगके दिखरावे हाव-भाव अरु दाव-पेंच पहचान गया॥

भावुक भूले निज भावोंमें,
दुनियाँ भूली निज दावोंमें,
अंतरका काला तमिर काट
मैं सत् प्रकाश पहचान गया।
मैं जान गया बस मान गया॥

माता पिता प्यार करते हैं बच्चेपर निज स्वार्थ जान;
भाई-भाईको नष्ट करें जब लखता है निज स्वार्थ हान।
स्वारथरत इस दुनियाँकी सब चाल दुरंगी छान गया॥

धोखा है व्यवहार यहाँका,
थोथा है सब प्यार यहाँका,
झूठी माया, झूठी ममता,
झूठा सब जग जान गया।
मैं जान गया बस मान गया॥

मीठी-मीठी बात बनाकर सारा धन बटोरते आप।
दीन दुखीका ख्याल न रखते आखिर सहते हैं संताप॥
याद रखो! इन करतूतोंसे होगा नहीं कभी उत्थान।
दुखित अनाश्रितको दुख देना महा पाप मैं जान गया॥

बच्चे भूले खेल-कूदमें,
भूले युवक जवानीमें,
अन्त बुढ़ापा आन दबाया
मैं पहले पहचान गया।
मैं जान गया बस मान गया॥

भूला-भटका, सीखा-समझा उरका मिथ्या अभिमान गया।
मैं जान गया बस मान गया॥

स्त्रियोंके लिये स्वार्थत्यागकी शिक्षा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

स्त्रियोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये तथा पुरुषोंके साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिये; आज यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

भगवान्‌को प्रसन्न करना अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना तो सभीका सिद्धान्त और एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। स्वार्थत्याग-पूर्वक सबकी सेवा करनेसे सब प्रसन्न होते हैं और सबके प्रसन्न होनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

माता-बहिनोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसमें ये दो बातें स्मरण रखनेकी हैं। एक तो यह कि मेरे व्यवहारसे सबको प्रसन्नता कैसे हो और दूसरे, यह समझना चाहिये कि परमात्मा सबमें विराजमान हैं, सब परमात्माके ही रूप हैं इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है और यों समझकर हर प्रकारसे अपने द्वारा जैसे ही बने, सबकी सेवा करनी चाहिये।

जैसे स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनमें रत होता है, वैसे ही सबके हितमें रत होना बहुत उच्चकोटिकी सेवा है और यही मनुष्यका लक्ष्य होना चाहिये। इसके तीन भेद हैं—

(१) जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था और ज्ञानमें अपनेसे बड़े हैं, चाहे स्त्री हों या पुरुष, उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करना।

(२) जो बराबरकी अवस्थावाले, समान श्रेणी-वाले हैं, उनकी मित्रभावसे सेवा करना।

(३) जो अपनेसे किसी भी प्रकारसे छोटे हैं, उनकी वात्सल्यभावसे सेवा करना।

इस प्रकार सेवामें यथायोग्य दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव रखना चाहिये। किसी भी रूपमें जो हमारे बड़े, पूज्य और स्वामी हैं, उनको मालिक समझ-कर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करना—दास्यभाव है। जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, पुत्र अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं और शिष्य अपने गुरुकी सेवा करते हैं तो यह दास्यभाव है। बराबरवालोंके साथ जो मित्रताका भाव है, वह सख्यभाव है। और छोटोंके प्रति जो स्नेहयुक्त पालन-पोषण-रक्षणका भाव है, वह वात्सल्यभाव है। तीनोंमें उद्देश्य एक ही है—उनको सुख पहुँचाना। इस प्रकारके भावोंसे परस्पर प्रेम बढ़ता है और ऐसे हेतुरहित प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वास्तवमें यह प्रेम भगवान्‌में ही है; क्योंकि उसकी सबमें भगवद्बुद्धि है और सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, इस निश्चयसे ही सेवा की जाती है। इसलिये उस सेवा करनेवालेका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसका दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है। उसके व्यवहारसे दूसरे भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी परम सेवा है।

स्त्रीका कर्तव्य है कि वह ससुरालमें अपनी सास और जेठानी आदिको जन्म देनेवाली माँसे भी बढ़कर समझे और यह निश्चय करे कि मैं यदि सेवाके द्वारा इनको प्रसन्न कर लूँगी तो भगवान् प्रसन्न होंगे। इसी भावसे उनकी सेवा करे। जो कार्य अपने मनके अनुकूल न होनेपर भी उनके मनके अनुकूल हो, वही करे; अपनी प्रतिकूलताकी परवा न करके उनकी अनुकूलताका आदर करे। उनकी प्रसन्नताको ही प्रधानता दे। परंतु यदि किसी पापकर्मसे उनको

प्रसन्नता होती हो तो, वह पाप कभी भूलकर भी न करे। बड़ोंको सुख पहुँचानेके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सह ले, परंतु उनकी पाप-आज्ञाका पालन न करे; क्योंकि उसके पालनसे उनका भी हित नहीं है। पापके लिये आज्ञा देनेवाले और उस आज्ञाका पालन करनेवाले—दोनों ही नरकमें जाते हैं। इसलिये हिंसा, चोरी, असत्य भाषण, व्यभिचार आदि करनेकी पापमयी आज्ञा बड़े लोग दें तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। ऐसी दुष्ट आज्ञाओंका पालन न करनेसे आज्ञा देनेवाले भी नरकसे बच जायँगे। फिर चाहे आज्ञा न माननेके कारण अपनेको नरकमें ही जाना पड़े। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार स्वार्थ-त्याग करके दूसरोंको नरकसे बचानेवाली स्त्रीको नरकमें डालनेकी शक्ति यमराजमें भी नहीं है।

त्यागमूर्ति श्रीभरतजीने अपनी माताकी अनुचित आज्ञाका पालन नहीं किया तो इससे क्या वे नरकमें गये ? भरतजीने चित्रकूटमें जाकर यह कहा कि 'मैं तो माताकी, पिताकी, गुरुकी तथा आप सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ आया हूँ, फिर भी आप मेरी प्रशंसा करते हैं।' इसमें कितना ऊँचा ध्येय है। भरतजीको इन लोगोंने जो राज्यपद स्वीकार करनेकी आज्ञा दी, वह भरतजीकी दृष्टिमें न्याययुक्त नहीं थी। इसलिये भरतजीने उसका पालन नहीं किया। इसी प्रकार राजा बलिने भी गुरुकी आज्ञाका त्याग कर दिया था, किंतु इससे वे नरकमें नहीं गये, बल्कि उनको उत्तम पदकी प्राप्ति ही हुई। अतएव यदि कोई नीति, धर्म अथवा ईश्वरकी भक्तिके विपरीत आज्ञा दे और उस पापमयी आज्ञाको हम अनुचित समझकर पालन न करें तो इससे हमें कोई पाप नहीं होता, बल्कि उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परम भक्त प्रह्लादजीको जब पिताने कहा कि तुम ईश्वरकी भक्ति मत करो, तब उन्होंने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी। इसके अतिरिक्त पिताकी प्रत्येक कठोरसे कठोर आज्ञाका पालन कर दारुण अत्याचार सहते रहे। पिताने जो भी निर्दय दण्डविधान किया, उन्होंने प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें बड़ोंकी अन्य सारी बातें माननी चाहिये, किंतु जो धर्म और ईश्वरकी भक्तिके विरुद्ध हो, उन बातोंको कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि 'बड़ोंको नरकसे बचाने तथा उनका परम हित करनेके लिये उनका न मानना ही उपयुक्त है।

अपने साथ जिनका बराबरका पद है, जो आपकी सखी हैं, जिनके साथ आपका प्रेम है और जिनकी अवस्था आदि समान है, उनके साथ मैत्रीभावनासे, अपने स्वार्थका त्याग करते हुए उनका हित करके उन्हें हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रकार सुख पहुँचानेसे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है और अपने उत्तम व्यवहारका उनपर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उनका भी सुधार और उद्धार हो सकता है।

अपनेसे जो छोटे हैं, उनका पालन-पोषण, शिक्षण, संरक्षण तथा शुद्ध मनोरञ्जनरूपी सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। यही वात्सल्य-भाव है। अपने बालकोंसे भी बढ़कर अपनी देवरानी-जेठानीके बालकोंको अथवा यदि पीहरमें हों तो भाई और बहिनके बालकोंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो कुछ भी मेवा-मिठाई, फल तथा खिलौने आदि हों, अपने बालकोंकी अपेक्षा उनके बालकोंको अधिक, बढ़िया और प्रथम देना चाहिये।

बहुओंका कर्तव्य है कि वे सासको माँसे भी बढ़कर समझें और उनकी आज्ञाका पालन करें। माताकी बात किसी समय न भी मानी जाय तो भी कोई हानि नहीं है, किंतु सासकी बात न माननेसे उनको विशेष दुःख होता है, इसलिये उनकी बात

अवश्य माननी चाहिये। जैसे भगवान्‌का भक्त बड़ी सावधानीसे ऐसी चेष्टा किया करता है, जिससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों, वैसे ही बहूका कर्तव्य है कि वह सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि पूजनीय जनोंको देवताओंसे भी बढ़कर माने और कर्तव्य समझकर उनको हर समय प्रसन्न करनेके लिये निष्काम प्रेम-भावसे विशेष प्रयत्न करे तथा यह अनुभव करे कि इन सबमें भगवान् विराजमान हैं और मैं जो कुछ कर रही हूँ, उसे वे देख रहे हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं।

सासको अपने आश्रित बहू आदिके विषयमें यह समझना चाहिये कि बहू जो अपने माता-पिताको छोड़कर इस घरमें आयी है, वह उसकी लड़कीसे भी बढ़कर स्नेहकी पात्री है। अपनी लड़की और बहूमें कभी कोई अनबन या मतभेद हो जाय तो उसे अपनी पुत्रवधूका पक्ष लेना चाहिये, लड़कीका नहीं। लड़की माँपर कभी नाराज नहीं होती। वह हृदयमें समझती है कि यह मेरी माँ है, यह मेरे विपक्षमें कभी मेरे अहितकी बात नहीं कह सकती। किंतु बहूके हृदयमें तुरंत यह बात आ सकती है कि सास अपनी लड़कीका पक्ष करती है। सास यदि अपनी बेटी और बहूके साथ समान व्यवहार करती है तो भी बहूके चित्तमें यही असर होता है कि यह अपनी लड़कीका पक्ष कर रही है। इससे यही उचित है कि वह वधूके उचित मतका विशेषरूपसे पक्ष करे।

यदि मैं अपने निजी भाइयों या अपने आदमियोंका और दूसरोंका कोई न्याय करने बैठूँगा और वह न्याय यदि नीतिके अनुसार भी करूँगा तब भी दूसरे पक्षवाले यही समझेंगे कि यह अपने भाइयोंका पक्ष करता है। उस स्थलमें यदि मैं प्रतिपक्षियोंका सच्चा पक्ष लूँगा, उनके उचित कथनका समर्थन करूँगा और अपने पक्षवाले यदि उचित भी कहते होंगे तो उस विषयमें मैं कुछ चुप रहूँगा तो प्रतिपक्षियोंपर उसका ऐसा अच्छा असर पड़ेगा कि वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे और जो हमारे हैं वे तो हमारे हैं ही।

एक बातके लिये माता-बहिनोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि उन्हें अपने घरके पुरुषों—पीहरवालों या ससुरालवालोंको किसी चीजके लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। उत्तम बात तो यह है कि कोई अपने पीहरमें आवे तो उसे किसी चीजकी माँग नहीं करनी चाहिये। पीहरवाले जितना, जो कुछ देना चाहें उससे भी कम लेनेकी इच्छा रक्खे और वैसी ही चेष्टा भी करे। इसे सिद्धान्त समझकर इसका पालन करनेकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। इसी प्रकार अपनी ससुरालमें भी अपने सास-ससुर जो कुछ देना चाहें, उससे कम ही लेनेकी इच्छा रक्खे और चेष्टा भी वैसी ही करे। स्वयं न लेकर, घरमें दूसरोंको, जिन्हें आवश्यकता हो, उन्हें अमुक चीज दिला देनी चाहिये। पीहरमें माता-पिता, भाई जो कुछ देना चाहें, स्वयं उससे कम ले और दूसरी बहिनोंको अधिक दिलानेकी चेष्टा करे इस प्रकारके व्यवहारसे प्रेम बढ़ता है, फिर लड़ाई-झगड़ा तो कभी हो ही नहीं सकता।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जो सत्य, प्रिय, हित और मित हो अर्थात् थोड़े वचनोंमें सार-सार बात कहनी चाहिये। फालतू (व्यर्थ) बातें न करनी चाहिये। वाणीमें कठोरता और झूठ नहीं आना चाहिये। किसी दूसरेको दुःख हो, ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिये। कपटरहित, मधुर, सत्य और हितकारक वचन ही बोलने चाहिये।

स्त्रीको कभी निकम्मी नहीं रहनी चाहिये। उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिके लिये शरीरसे सदा काम लेते रहना चाहिये। जो स्त्री निकम्मी रहती है, उसका आलस्यके कारण पतन हो जाता है। शरीरका एक क्षणका भी कोई भरोसा नहीं है, न मालूम किस समय शान्त हो जाय; इसलिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए शरीरसे न्यायोचित काम, दूसरोंको दुःख न हो ऐसे करते ही रहना चाहिये। उत्तम कामकी हर वक्त खोज रखनी चाहिये।

सादगीसे रहना चाहिये। घरवालोंको बढ़िया

कपड़े-गहने आदिके लिये न कहे और दबाव तो कभी डाले ही नहीं । वे अपनी सुविधाके अनुसार प्रसन्नतासे जो कुछ वस्त्र-आभूषण दें, उसीमें संतुष्ट रहे; बल्कि उससे कम लेनेका भाव रक्खे । स्वयं ऐसे त्यागका व्यवहार करना चाहिये कि जिसका उनपर प्रभाव पड़े और वे भी आपके अनुसार ही स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें । स्वार्थ-त्यागकी बड़ी भारी महिमा और सामर्थ्य है । स्वार्थत्यागपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है । स्वार्थत्यागके व्यवहारसे दूसरोंको बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी आगे जाकर स्वार्थके त्यागी बन जाते हैं ।

मैं यदि आपके साथ स्वार्थका त्याग करके व्यवहार करता रहूँगा तो आखिर आपमें भी यह भाव पैदा हो जायगा और आप भी मेरे साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगेंगे, यह निश्चित बात है । तथापि अपना सिद्धान्त तो यह रखना चाहिये कि अपने साथ कोई बदलेमें स्वार्थत्यागका व्यवहार न करे तो भी अपनेको तो स्वार्थ-त्यागपूर्वक ही व्यवहार करना है, बल्कि अपने साथ कोई बुराई करे तो भी अपने तो उसका हित ही करना है । स्त्रियोंको इसपर ध्यान देकर ऐसा करना चाहिये ।

किसीकी व्यर्थ निन्दा-चुगली कभी न करे तथा किसीमें कोई दोष हो तो भी उस दोषका वर्णन न करे । हाँ, उसके पूछने और आग्रह करनेपर यदि आपके कहनेसे उसका सुधार होनेकी आशा हो और वह बुरा न माने तो ऐसी अवस्थामें उसे बता देना कोई दोषकी बात नहीं है । किंतु जहाँतक हो, बिना पूछे नहीं बताना चाहिये । किसीमें कोई उत्तम गुण हो तो उसका वर्णन किया जा सकता है पर वह गुण यथार्थमें होना चाहिये; झूठे गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं ।

किसीको नीचा दिखानेकी चेष्टा कभी न करे और न नीचा दिखानेका मनमें भाव ही रक्खे । किसीका अपमान भी कभी न करे और सबके हितकी चेष्टा करे । किंतु किसीका हित करके, उसे कभी किसीसे न कहे और न मनमें ही उसे याद रक्खे; क्योंकि याद रखनेसे अहङ्कार बढ़ता है और कह देनेसे किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है । दूसरा कोई यदि अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि बदलेमें उसका हित करना चाहिये । ऐसा व्यवहार बड़ी ही उच्चकोटिका और हितकारक है ।

किसीके भी साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें त्याग, विनय, प्रेम और उदारता होनी चाहिये । इस प्रकारके व्यवहारसे लोगोंपर निश्चय ही बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वे भी अच्छे बनते हैं । जब उत्तम व्यवहारसे परमात्मा प्रसन्न होते और मिलते हैं तब हमको सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार ही करना चाहिये; क्योंकि फिर यह शरीर, ऐश्वर्य और धन हमारे क्या काम आवेंगे । अपने स्वार्थसाधन या अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसीसे मित्रता करना मित्रता है ही नहीं । मित्रता तो उसके कल्याणके लिये करनी चाहिये । महात्मा पुरुष किसीसे मित्रता करते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही करते हैं । इसलिये माता-बहिनोंको चाहिये कि महात्माओंके इस मैत्री-व्यवहारको आदर्श मानकर दूसरोंके हितके लिये ही सबके साथ निष्कामभावसे मित्रता करें ।

अपने पास कोई उत्तम वस्तु हो तो, उसे अपनी सखीको अधिक देना चाहिये और उसको दुःख न हो, इस दृष्टिसे उसकी चीज भी, काम पड़े तब, थोड़ी ले लेनी चाहिये । जैसे उसने फल भेजे, आम भेजे तो थोड़े रख लिये और शेष वापस लौटा दिये । अपने यहाँसे कोई चीज भेजें तब उसने जो चीज भेजी थी, उससे चौगुने मूल्यकी और उसके उपयोगमें आने योग्य चीज भेजनी चाहिये । अपने पास कोई चीज है और अपनी सखी अपनेसे गरीब है तो कपड़ा और खानेकी चीजें किसी भी बहानेसे उसके घर पहुँचाते रहना चाहिये । वह अस्वीकार करे तो स्वयं जाकर आग्रह करके दे आना चाहिये और बदलेमें, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसकी कम कीमतकी वस्तु ले

लेनी चाहिये। जैसे वहाँ अंगोछे पड़े देखे तो कहा कि 'ये अंगोछे तो बहुत बढ़िया हैं। मैं इनमेंसे दो ले लेती हूँ।' उसने कहा—'अवश्य ले जाओ।' दोनों अंगोछोंकी कीमत हुई एक रुपया और उनके बदलेमें उसे दस रुपयेकी साड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेज दीं। इसपर यदि उसने कहा—'बिना मूल्य यह मैं कैसे रक्खूँ?' तो कहना चाहिये—'मैं तो तुम्हारे अंगोछे उठाकर ले आयी थी। तुम्हारी-हमारी कोई दो बात थोड़े ही है। तुम्हारी चीज हमारी है और हमारी तुम्हारी है।' उसके घरपर भूँजे चने देखे तो कहा—'बहुत बढ़िया है, लाओ, थोड़ा मुझे भी दो।' भूँजे चने हैं दो पैसेके। माँगकर खा लिये; क्योंकि इसको निमित्त बनाकर अपनेको दस रुपयेकी चीज उसके यहाँ पहुँचानी है। इसी प्रकार जब भी उसके घरपर जाय, और घी-चीनी आदि किसी भी चीजकी कमी देखे तो झट पहुँचा दे। इसपर वह कहे कि बिना मूल्य मैं कैसे लूँ तो कह दे कि अपने आपसमें संकोच नहीं करना चाहिये। जब हम परस्पर सखी हैं तब तुम्हारी चीज है सो हमारी और हमारी है सो तुम्हारी। और वस्तुतः ऐसा ही आन्तरिक भाव रखना चाहिये। वह गरीब है, इसलिये उपकार या दयाकी भावनासे नहीं, बल्कि वह सखी है, मित्र है, उसका दुःख मेरा ही दुःख है—उसका मुझपर और मेरी वस्तुओंपर अधिकार है, इस भावनासे उसे वस्तुएँ देनी चाहिये।

लेनेका काम पड़े तो खूब कम लेना चाहिये और वह भी उसके संतोषके लिये, जिससे कि जब अपने कोई चीज़ उसे दे तो वह मने न कर सके। इसी दृष्टिसे उसकी चीज लेनी चाहिये, स्वार्थबुद्धिसे नहीं। स्वार्थबुद्धिसे तो सभी लोग लेते हैं। उसके लिये शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। सीखनी तो है स्वार्थत्यागकी बात। इसीसे मुक्ति होती है। स्वार्थसाधनसे मुक्ति होती तो सबकी हो जाती। त्यागका महत्त्व भगवान्‌के ध्यानसे भी बढ़कर गीतामें बतलाया गया है। १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।

'ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग यानी निष्कामकर्म अर्थात् स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे तत्काल शान्ति मिलती है।' यहाँ त्यागका अभिप्राय है—स्वार्थका त्याग। हम कोई भी कार्य करें, उसमें जो व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग है, वह सबसे उत्तम है।

यह शरीर नाशवान् है। इसे पुष्ट करनेमें या सजानेमें पैसे खर्च करना मूर्खता है। उन पैसोंसे दुखी, गरीब, अनाथोंकी सेवा करनी चाहिये। हमारे पास जो धन है, उससे आसक्ति हटाकर उसका सदा सदुपयोग करना चाहिये; क्योंकि जब हम मर जायँगे तब वह धन यहीं रह जायगा—न मालूम, उसकी क्या दशा होगी। थोड़े ही समयके लिये हमको यह अवसर मिला है, ऐसा अवसर बहुत कालतक रहनेका नहीं है। इसलिये शीघ्र ही अपना काम बना लेना चाहिये। अन्तमें न तो यह शरीर रहेगा और न यह ऐश्वर्य तथा धन ही। आज जो हमारे अधिकारमें है, वह सब जल्दी ही हमसे छूटनेवाला है। जैसे समय बीत रहा है, इसी प्रकार ये सब चीजें समयके साथ-साथ चली जा रही हैं। लाख जतन करनेपर भी नहीं रहेंगी। जब अपना शरीर ही रहनेका नहीं है, तब दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या है। अतएव इन सब पदार्थोंको जगज्जनार्दनकी सेवामें लगाना चाहिये।

हरेक माता-बहिनको यह स्मरण रखना चाहिये कि यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा, इसकी खाक हो जायगी। अतः खाक होनेके पहले-पहले ही इस शरीरका सदुपयोग जगज्जनार्दनकी सेवामें कर लें, जिससे मानव-जन्म सफल हो जाय। जैसे ईश्वरकी सेवा करनेमें प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता सबकी सेवामें होनी चाहिये; क्योंकि सभी परमात्माके स्वरूप हैं या सभीमें परमात्मा विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इस निष्काम सेवा या स्वार्थत्यागपूर्वक की जानेवाली सेवाको ही निष्कामकर्म कहते हैं। इस निष्काम कर्मसे आत्मा बहुत ही शीघ्र पवित्र होता है और भगवान्‌में

सच्चा प्रेम बढ़ता है। इसलिये हमारी सारी क्रियाएँ भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होनी चाहिये।

माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे अपने बालक-बालिकाओंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करें जिसमें उनका हित हो। उनका हित है विद्यालाभमें और उत्तम आचरणोंमें। अतः उनको श्रेष्ठ विद्या और उत्तम आचरणोंकी शिक्षा देनी चाहिये। माता-पिता सदाचारी होते हैं तो बालक भी सदाचारी होते हैं। बालकोंके सामने बड़ी सावधानीसे क्रियाके रूपमें सदाचार रखना चाहिये, तभी उनपर असर पड़ता है। आप झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार करेंगे और उनसे कहेंगे कि सत्य बोलो, अहिंसाका पालन करो, चोरी मत करो, ब्रह्मचर्य रक्खो तो इस कथनमात्रका कुछ भी असर नहीं होगा। इसलिये उनके सामने उत्तम आदर्श रखकर उनको उसी प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये।

विधवा माताओंको चाहिये कि वे अपने जीवनको सर्वथा पवित्र, वैराग्यमय और त्यागयुक्त बनायें। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, हास-विलासका सर्वथा त्याग कर दें। जीवनको तपस्यामय बना लें। मन, इन्द्रियोंका संयम रक्खें। जो स्त्रियाँ ऐश, आराम, स्वाद-शौकीनी आदिमें रत हैं, उनका दर्शन भी न करें। उनके पास न बैठें। समझना चाहिये कि वे कीचड़में फँसी हुई हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रही हैं। उनका सङ्ग करके अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेमें अपना समय बिताना और निष्कामभावसे लोगोंकी शास्त्रोक्त सेवा करनी चाहिये। शरीरसे हर समय उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये।

सुहागिन माताओंका यह कर्तव्य है कि वे उन विधवा माताओंकी सेवा करें, उनको सच्चे हृदयसे सुख पहुँचाना चाहिये। विधवा माँ-बहिनको जो दुःख देता है, वह स्त्री हो या पुरुष, उसका इस लोकमें पतन होता है, निन्दा होती है और मरनेपर उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है।

विवाह-शादी आदि राजसी कामोंमें विधवा माताओंको स्वयं ही नहीं जाना चाहिये। राजसी उत्सव-समारोहोंसे, गान-वाद्यादिसे दूर ही रहना चाहिये। धार्मिक विषय हो, भक्तिकी बात हो या सत्सङ्ग हो तो उसमें जानेमें कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि लाभ ही है। किंतु यदि कहीं बाहर जाना हो तो, चाहे वह धार्मिक काम ही क्यों न हो, अपने ससुराल या पीहरवालोंके साथ जाना चाहिये, अकेली नहीं। जो स्त्री अकेली घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर भटकती है, उसका पतन होनेका भय है। इसलिये स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र नहीं घूमना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
(५। ४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो (साबालिग) पुत्रोंके अधीन रहे (उनके अभावमें ससुरालवालोंके अधीन होकर रहे); तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

स्मरण करना चाहिये कि मालिक जो पाप करता है, वह उसके अधीन रहनेवालेको नहीं लगता। जैसे कोई पति पाप करता है तो उसका फल पत्नीको नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि वह तो पतिके पराधीन है। किंतु स्त्री जो पाप करती है उसका आधा भाग उसके पतिको भोगना पड़ता है; क्योंकि वह शासक है। पुरुष जो पुण्य करता है, उसका आधा स्त्रीको मिलता है; किंतु जो स्त्री पतिके अधीन नहीं रहती, उसको नहीं। जो स्त्री पतिकी सेवा करती है, पतिका साथ देती है, उसी पतिव्रताको आधा पुण्य मिलता है।

अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको पातिव्रत-धर्मके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

प्रारब्ध

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

नीतिकार कहते हैं कि सुखके भोग आवें तो उन्हें भोग लो। ये भोग हमारे गत जन्मोंके शुभ कर्मोंके फलस्वरूप ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त हुए हैं। अतः अपने जीवनका निर्वाह कोर-कसरके साथ करके बचे हुएको प्रभुप्रीत्यर्थं शुभकर्ममें लगाओ, न कि मौज-शौकमें खर्च करो। वैसे ही दुःखके भोग आ जायँ तो वे भी अपने कर्मके ही फल हैं अतएव उन्हें धैर्यसे सहन करो और इसके लिये किसीको दोष न दो। फिर, सुखका समय सदा बना नहीं रहता, इसलिये उस समय जितनी हो सके भलाई कर लो, वैसे ही दुःखका दिन भी सदा नहीं रहते, इसलिये शान्तिसे उस समयको बिता दो।

गाड़ीके पहियेमें बहुत-सी अराएँ होती हैं। पहियेके कारण वे अराएँ ऊपर-नीचे आया-जाया करती हैं। इसी प्रकार जीवनके पहियेके सुख-दुःखरूपी अराएँ फिरती ही रहती हैं, कोई अरा सदा एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, जब सारा विश्वचक्र घूमता रहता है तो फिर सुख-दुःख स्थिर कैसे रह सकते हैं ?

× × ×

अपने ऋषि-मुनियोंका इतना बड़ा उपकार है कि उनके ऋणसे कभी हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। उससे मुक्त होनेका केवल एक ही उपाय है कि हम उनके उपदेशोंके अनुसार आचरण करके मुक्ति प्राप्त कर लें। इसके सिवा ऋणमुक्त होनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

प्रत्येक मनुष्यको अपनी जीवन-नीति कैसी बनानी चाहिये कि जिससे वह उत्तरोत्तर उन्नति कर सके। इसके लिये उन्होंने चार पुरुषार्थोंकी योजना बनायी। ये चारों पुरुषार्थ केवल मानव-शरीरमें ही सिद्ध हो सकते हैं, इस कारण मानव-शरीर सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ये पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे बीचके दो —अर्थ और काम यानी जीवननिर्वाहके साधन तो जन्मसे पहले ही निश्चित हो जाते हैं और इन निश्चित कर्मफलभोगों-को 'प्रारब्ध' नाम दिया जाता है। इस प्रकार स्थूल शरीर अपने निर्वाहके विषयमें पूर्णरूपसे प्रारब्धके अधीन है। अतः उसके लिये कोई खास परिश्रम नहीं करना पड़ता। फिर धर्मको प्रमुख स्थान देकर यह सूचित किया गया है कि शरीरनिर्वाहके साधनोंको प्राप्त करनेमें भी धर्मका अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिये। यदि अधर्मसे शरीरका भोग प्राप्त किया जाय तो अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। इस बातको एक दृष्टान्तद्वारा समझिये।

एक मनुष्य छल-कपटसे किसीको धोखा देकर १००) प्राप्त करता है और अहंकारसे फूलकर अपनी होशियारी बताकर कहता है 'देखो, मैंने कैसी चालाकीसे घड़ी भरमें १००) कमा लिये।' परंतु यह तो भयङ्कर अज्ञान है। रुपये तो प्रारब्धके अनुसार मिलने थे, वे मिल गये। परंतु उसके साथ जन्म-जन्मान्तरमें अधोगति प्रदान करनेवाला जो पाप कमाया, इसका क्या होगा ? अर्थ और कामके साधन स्थूल जगत्‌के हैं, अतएव बाह्य व्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे हमको जो कुछ प्राप्त होता है, वह प्रारब्धके भोगके अनुसार ही मिलता है। परंतु धर्म तथा मोक्ष दोनोंका सम्बन्ध आन्तरिक मनोभावके साथ है, इनके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। १००) तो प्रारब्धके योगसे मिलनेवाले थे, सो मिले परंतु उसने पुरुषार्थके रूपमें अधर्म ही कमाया। अतएव मोक्षके साधनके लिये धर्मका अवलम्बन आवश्यक है। इसके लिये इन चारों पुरुषार्थोंका समन्वय ऐसे करना चाहिये। धर्मके मार्गपर चलते हुए शरीरका निर्वाह यथा-प्राप्तमें करता रहे और जीवनका अन्तिम ध्येय तो मोक्ष ही है, यह निश्चय करके ऐसा कोई भी काम न करे, जो मोक्ष-की सिद्धिमें विघ्न उत्पन्न करता हो।

परंतु आजके युगमें भोगवासना इतनी अधिक तीव्र बनती जा रही है कि मनुष्यको धर्मका नाम लेनेमें भी हिचकिचाहट होती है, तब फिर उसके नियमोंका पालन तो वह कैसे कर सकता है ? अपने शरीरके सिवा और कुछ भी उसको नहीं दीखता। अतएव शरीरको सुख पहुँचानेमें ही वह जीवनकी इतिकर्तव्यता मानता है। प्रत्येक मनुष्यको सबसे अधिक भोग-सामग्री चाहिये, तब फिर जीवनमें संघर्ष न हो तो क्या हो ? और जहाँ संघर्षमें ही जीवन बिताना

पड़ता है वहाँ सुखका दर्शन कहाँ !—'अशान्तस्य कुतः सुखम् !'

इस तरहका संघर्ष जागने ही न पाये, इसीके लिये ऋषि-मुनियोंने वर्ण-व्यवस्थाका निर्माण किया था। जो मनुष्य जिस वर्णमें जन्मा हो, वह अपने धर्मके अनुसार ही अपनी आजीविका प्राप्त करे। बढ़ईका लड़का बढ़ईका ही काम करे और दर्जीका लड़का दर्जीका; लोहारका लड़का लोहेका काम करे और कुम्हारका लड़का मिट्टीके बरतन बनावे। इसमें एक दूसरेसे ऊँचा है, ऐसी कोई भावना ही नहीं थी; क्योंकि प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कामके गौरवका अनुभव करता और अपनी कलाको खूब विकसित करता। आज इस व्यवस्थाको सुधारके नामपर मिटा दिया गया है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके नामपर यह निश्चय कर दिया गया है कि कोई भी आदमी, अपनेको अच्छा लगे वही धंधा कर सकता है। फलतः हम अपनी आँखों देखते हैं कि आज आजीविकाके लिये संघर्ष अत्यन्त तीव्र होता जा रहा है। परंतु अबतक हमारे दुःखका अन्त नहीं हुआ और इस दिशामें किसीकी आँख नहीं खुलती।

यों वर्ण-व्यवस्थाके द्वारा समाज-रचना सुदृढ़ बनाकर, अन्तिम ध्येय मोक्षकी प्राप्तिके लिये आश्रमकी व्यवस्था बनायी गयी थी। चाहे जिस वर्णका मनुष्य आश्रममें रहता हुआ मोक्ष-साधना कर सकता है। अन्तिम ध्येयको प्राप्त करनेमें सबको समान अधिकार है यहाँ पूर्ण वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य है।

× × ×

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रिये ते भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरा तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥

यह उत्तरगीताका श्लोक है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि कर्मरूपी बीज न हो तो शरीररूपी वृक्ष उत्पन्न ही न हो, उग ही न सके। अर्थात् जीवके शरीर धारण करनेका कारण प्रारब्ध-भोगके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। कर्माशय न हो तो फिर प्रारब्धका निर्माण ही कैसे हो, जिसको भोगनेके लिये जीवको भोगानुरूप शरीर धारण करना पड़ता है ! सुख प्राप्त करनेकी आशासे जीव अहङ्कारपूर्वक कर्म करता है और परिणाममें जिस कर्मके फलस्वरूप सुखकी अनुभूति होती है, उसमें उसका राग हो जाता है और जहाँ दुःखका अनुभव होता है उसके प्रति द्वेष हो जाता है। 'सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः'। आगे चलकर इन राग-द्वेषके जोड़ोंसे धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदिके अनेक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं और जीव जन्म-मरणके चक्रमें जकड़ जाता है। बीजसे जैसे वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्षमेंसे फिर अनन्त बीजशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार कर्मका फल भोगनेके लिये शरीर उत्पन्न होता है और शरीरसे फिर असंख्य कर्म होते हैं, जिनको भोगनेके लिये जीवको अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं, इस प्रकार वर्तमानमें हमने जो शरीर धारण किया है वह प्रारब्ध-कर्मका फल भोगनेके लिये ही है। अतएव प्रारब्धका स्वरूप क्या है, इसको देखनेका प्रयत्न यहाँ किया जायगा।

प्रारब्ध भी है तो कर्म ही, अर्थात् वस्तुतः 'प्रारब्ध-कर्म' यह शब्द प्रयोग होना चाहिये। परंतु कर्म शब्द अध्याहार रह जाता है और केवल प्रारब्ध शब्द रूढ़ि रह गया है।

गीता कहती है कि 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३।४) अर्थात् कोई देहधारी क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। तथा पुनः, 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' (३।८) अर्थात् शरीरका निर्वाह भी कर्म किये बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्म करना तो अनिवार्य है, अतः पहले कर्मका स्वरूप समझना चाहिये। तभी प्रारब्धका स्वरूप समझमें आयेगा।

कर्मका सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

'जो शुभाशुभ कर्म किये होते हैं उनके फलस्वरूप सुख-दुःखके भोग भोगे बिना छुटकारा नहीं; क्योंकि कोटि-कोटि कल्प बीत जानेपर भी भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता। कर्मका फल भोगनेसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।'

यह बात योगदर्शनमें बहुत ही सुन्दर रीतिसे बतलायी गयी है—'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।' क्लेश है मूलमें जिसके अर्थात् क्लेश है उद्भवस्थान जिसका—ऐसे

जो कर्मसमूह हैं, वे ही वर्तमान जन्म तथा भावी जन्म देनेवाले हैं।*

इससे अगले सूत्रमें कहते हैं—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

जबतक यह कर्माशयरूपी बीज है, तबतक उसके फलरूपमें जीवको शरीर धारण करने पड़ते हैं और उस-उस शरीरके जन्मके पहले ही उसके भोगका निर्माण हो जाता है। उसीके साथ भोगके अनुरूप योनि निश्चित होती है और भोगके अनुसार आयुकी मर्यादा भी निश्चित हो जाती है। इस प्रकार जबतक कर्मबीज है, तबतक शरीर धारण करना अनिवार्य है और शरीर है तबतक कर्म भी अनिवार्य है। इस प्रकार जन्म-मरणका चक्र चलता रहता है। यों योगदर्शन भी, जन्म-मरणके चक्रका कारण कर्म है, यह प्रतिपादन करता है।

अब यह देखना है कि प्रारब्ध कैसे बनता है? इससे उसका कार्यक्षेत्र ठीक समझमें आ जायगा। हमने देखा कि कर्म करना अनिवार्य है तथा उसका फल भोगना तो उससे भी अधिक अनिवार्य है। इस प्रकार जबतक शरीर है, तबतक कर्म तो प्रतिदिन हुआ ही करेंगे। इस प्रकार प्रतिदिन होनेवाले कर्मको 'क्रियमाण' कर्म कहते हैं। इन क्रियमाण कर्मोंमें कुछ तो इतने क्षुद्र होते हैं कि यहीं फल प्रदान करके समाप्त हो जाते हैं। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो तात्कालिक फल नहीं दे सकते, परंतु परिपाक होनेपर फल देते हैं, ऐसे कर्म परिपक्व होनेतक 'चित्त' नामके गोदाममें इकट्ठे होते जाते हैं। इस प्रकार गोदाममें इकट्ठे हुए कर्मोंको 'संचित कर्म' कहते हैं। यह बात दो-एक दृष्टान्तोंके द्वारा समझिये। पानी पीनेके लिये प्यास लगी। बैठकर घड़ेसे पानी लेकर पी लिया। अब यह पानी पीनेके लिये किया हुआ कर्म, पानी पीनेके साथ यहीं समाप्त हो गया; क्योंकि पानी पी लेना ही उसका फल था। परंतु जब तुम पानी पी रहे थे उस समय एक अभ्यागत आया और उसने पानी पीनेके लिये माँगा। तुमने उसको आदरसे बैठाकर ठंडा पानी बड़े प्रेमसे पिला दिया। इसके बदले उसने चाहे तुम्हारा उपकार भी माना हो तो भी इतनेसे इस कर्मका फल नहीं मिल गया। दूसरेको सुख पहुँचानेवाले कर्मका फल तो उसके पाककालमें ही मिलता है। इसलिये यह कर्म संचितमें शामिल हो जायगा और पाककालकी राह देखेगा। तुमने भोजन करनेके लिये रसोई बनायी, तैयार होनेपर भोजन करने बैठे और भोजन किया; इसलिये रसोई बनानेका कर्म भोजनरूपी फल देकर यहीं समाप्त हो गया। परंतु उसी समय कोई अतिथि आया और उसको तुमने आदरपूर्वक भोजन कराया, तो उस कर्मका फल तुरंत नहीं मिलता, बल्कि वह परिपक्व होनेके लिये संचितमें जाता है और पाककालमें किसी अन्य देहका प्रारब्ध बनकर भविष्यमें फल देता है।

इस प्रकार संचितमें ढेरके ढेर कर्म इकट्ठे होते जाते हैं और पाककालतक वहीं पड़े रहते हैं। ऐसे संचितमें पड़े हुए कर्मकी गति भी बड़ी विचित्र होती है। उनमेंसे कुछ ऐसे होते हैं कि एक ही कर्मका फल भोगनेके लिये जीवको एकसे अधिक देह धारण करने पड़ते हैं। दूसरे कुछ ऐसे भी कर्म होते हैं कि एक ही देहमें अनेक कर्मोंके फल भोग लिये जाते हैं। जब वर्तमान शरीरका प्रारब्ध समाप्त हो जाता है, तब वह नाशको प्राप्त हो जाता है। और उसी समय संचितमें जो-जो कर्म फल देनेके लिये तैयार हुए रहते हैं, उनको अलग कर लिया जाता है, इसके बाद उस भोगके अनुरूप एक या अधिक देह निश्चित हो जाती है और भोगके अनुसार उन देहोंकी आयु भी निश्चित हो जाती है। इस प्रकार परिपक्व हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये जो देह उत्पन्न होती है उस देहके ये कर्म 'प्रारब्ध' कहलाते हैं। इसलिये जिन प्रारब्ध कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही देह उत्पन्न होती है, उनको भोगे बिना कैसे काम चल सकता है? तीर हाथसे

---

* योगदर्शनके अनुसार ये क्लेश पाँच प्रकारके हैं—(१) अविद्या अर्थात् स्वरूपका अज्ञान, 'मैं कौन हूँ'—यह न जानना, (२) अस्मिता, शरीरमें अहंभाव, इसलिये मृत्युका भय, (३) राग, अर्थात् प्रीतिका भाव या आसक्ति, (४) द्वेष अर्थात् अनबन या तिरस्कारका भाव, (५) अभिनिवेश अर्थात् अपने मतका आग्रह। अविद्याके कारण आत्माको अपने स्वरूपका विस्मरण होता है और इससे वह अपनेको शरीररूप मानता है। शरीरको तो वह प्रतिदिन मरता देखता है, इससे उसको यह भय बना रहता है 'कि मैं मर जाऊँगा।' इस कारण वह शरीरको स्वस्थ रखने, वह कभी मर न सके अथवा अधिक-से-अधिक जी सके, ऐसा बनानेके लिये तथा उसको सुख पहुँचानेके लिये भोगपदार्थोंका संग्रह करता है। सुखरूप लगनेवाले पदार्थोंमें राग करता है, और उससे विपरीतमें द्वेष। इस राग-द्वेषके कारण हम जो मानते हैं वही ठीक है, यह मताग्रह बद्धमूल हो जाता है। इस प्रकार एक अविद्यासे ही दूसरे क्लेश उत्पन्न होते हैं।

छूट जानेपर जैसे वह किसी भी प्रयत्नसे लौटकर नहीं आता, उसी प्रकार जिस प्रारब्धके भोगनेके लिये शरीर उत्पन्न हुआ है, उसको भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता।

अब यह देखना है कि कौन-से कर्म संचितमें शामिल नहीं होते। बेसमझ बालक और ज्ञानी—आत्मज्ञानीके द्वारा होनेवाले कर्म संचितमें नहीं जाते; क्योंकि वे कर्म कर्तापनके अहङ्कार और फलाशासे रहित होनेके कारण उनकी गणना कर्मोंमें नहीं होती। इस कारण भुने हुए बीजके समान उनमें भावी अङ्कुर ही नहीं निकलता और संचितमें जानेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। जो कर्म श्वासोच्छ्वासकी क्रियाके समान फलकी आशाके विना सहज भावसे होते हैं, वे भी संचितमें नहीं जाते; क्योंकि भविष्यमें उनको कोई फल नहीं देना होता। ये कर्म कैसे होते हैं, इसका बहुत सुन्दर चित्र श्रीयोगवासिष्ठमें इस प्रकार खींचा गया है—

गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः।
स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु॥

हम घरसे बाजार जानेके लिये निकले। यह संकल्प हुआ कि पैर अपने-आप हमको बाजार ले जाते हैं और वहाँ जाकर खड़े हो जाते हैं। बीचमें दूसरा कोई संकल्प नहीं करना पड़ता, यह प्रतिदिनके अनुभवकी बात है। कामधंधेके लिये जानेवाले लोगोंको भी ऐसा अनुभव रोज होता है। इसलिये श्रीवसिष्ठ महाराज कहते हैं कि इस प्रकार कोई संकल्प किये विना जो-जो कर्म होते हैं, वे कर्म कोई फल नहीं देते, इसलिये उनको संचितमें जानेकी जरूरत नहीं होती।

अब, प्रारब्धका स्वरूप जाननेसे क्या लाभ है, यह देखकर लेख समाप्त किया जायगा। पहले तो जिस मनुष्यको कर्मफल-भोगमें विश्वास है और जिसको नहीं है, उन दोनोंमें आकाश और पृथिवी या दिन और रात्रि-जैसा अन्तर है। एक बूढ़ा आदमी और उसके पौत्रका सहाध्यायी दोनों साथ जा रहे थे। बूढ़ेको रास्तेमें एक सोनेकी मोहर-जैसा कुछ दीख पड़ा। उसने उसे उठाया और उसे सोनेकी मोहर जानकर वापस फेंक दिया। साथ चलते हुए युवकने यह देखा और उसने तुरंत उस मोहरको उठा लिया। उसे देखकर अपनी जेबमें डाल लिया और बूढ़ेसे पूछा—'दादाजी! आपने इस सोनेकी मोहरको रक्खा क्यों नहीं? क्यों वापस फेंक दिया?' तब बूढ़ेने कहा—'पहले तुम बतलाओ कि तुमने क्यों उसको अपनी जेबमें डाल लिया?' युवकने कहा—'दादाजी! यह गिन्नी है। इसके साठ-सत्तर रुपये आयँगे। इससे महीने-दो-महीनेका चाय-पानी तथा सिनेमाका खर्च निकल जायगा। हाँ, यदि किसीकी जेब काटकर निकालता तो वह चोरी कहलाती। परंतु यह तो 'सहज मिले सो दूध बराबर'—इस प्रकार अचानक प्राप्त लाभको भला कौन समझदार छोड़ देगा? अब आप बतलाइये कि आपने मोहरको क्यों फेंक दिया?' तब बूढ़ा बोला—'भाई, मेरा विचार दूसरे ही प्रकारका है। देखो, जब तुमने सोनेकी मोहरको जेबमें डाला, उसी क्षण प्रभुकी बहीमें वह मोहर तुम्हारे खातेमें नाम लिखी गयी और उसके ऊपर चक्रवृद्धि-व्याज चालू हो गया। इस प्रकार जिसकी मोहर खोयी थी उसे लाभ हो गया। वह मोहर ज्यों ही तुम्हारे नाम लिखी गयी त्यों ही उसके खातेमें जमा हो गयी और उसपर चक्रवृद्धि-व्याज चालू हो गया। यों मोहर खोनेवालेके तुम देनदार बन गये। और इस जन्ममें, नहीं तो, दूसरे किसी जन्ममें तुमको उसका देना चुकाना ही पड़ेगा। और उस समय एक मोहरकी जगह हजार या दस हजार मोहरें तुमको देनी ही पड़ेंगी। इस प्रकार जो मनुष्य बिना हकका लेता है, वह तो देनदार ही बनता है और उसे व्याजसहित चुकाये बिना उसका छुटकारा नहीं होता। भले ही आज तुम इसे न मानो, परंतु तुम्हारे माननेसे देना चुकाये बिना तुम नहीं छूट सकते; क्योंकि यह तो ईश्वरके घरका अटल नियम है।'

प्रारब्धका स्वरूप जाननेसे पहला और सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि मनुष्य जब निश्चय कर लेता है कि प्रारब्धमें जो भोग लिखाकर लाये हैं, उससे अधिक किसी भी कालमें मिलेगा ही नहीं, तब वह यथाप्राप्त सुख-दुःखमें समता रखना सीखता है और यों होनेपर उसमें संतोष-वृत्ति पैदा होती है। संतोष ही सुखी जीवनका रहस्य है, इसलिये उसका जीवन सुखमय स्थितिमें बीतता है। योगसूत्र कहता है—'संतोषादनुत्तमसुखलाभः'। संतोष ही वास्तविक और बड़े-से-बड़ा सुख है। श्रीभर्तृहरि भी कहते हैं—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

जिसकी तृष्णा विशाल है, यानी कभी पूरी होती ही नहीं, वही सच्चा दरिद्र है। और जब मनमें संतोष होता है तो गरीबी या श्रीमन्ताई—ये शब्द निरर्थक हो जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

जब आव संतोष धन सब धन धूरि समान ।

इससे भी बड़ा लाभ यह है कि सुखभोग प्राप्त करने या दुःखकी निवृत्ति करनेमें वह अनीति या अन्यायके मार्गसे नहीं जाता; क्योंकि उसको विश्वास है कि प्रारब्धसे अधिक तो मिलनेवाला नहीं। तब फिर पापकर्म करके भविष्य-जीवन क्यों बिगाड़ा जाय? इसलिये वह पापकर्मसे दूर रहता है।

फिर वह जान जाता है कि सुखका जो भोग मिला है वह मेरे पुण्यकर्मका फल है और जो दुःख आता है वह मेरे पापकर्मका फल है। इससे वह पापकर्म करता ही नहीं है। इतना ही नहीं, चाहे जैसी गरीबी हो, वह सदा पुण्य-कर्म ही करता रहता है। पेटभर खानेके लिये न मिलता हो तो भी उसमेंसे कुछ परोपकारमें देता है। उसको विश्वास है कि यह जीवन तो जो पूँजी लेकर आया हूँ उसीसे पूरा करना है। इसलिये वर्तमान जीवनकी चिन्ता न करके उसका लक्ष्य भावी जीवनके सुधारनेमें ही रहता है और इस कारण वह सदा ही परोपकार करता रहता है और बिना हककी कोई वस्तु नहीं लेता। इस सम्बन्धमें सुभाषितने कहा है—

भिक्षुका नैव भिक्षन्ति बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां लोका अदातुः फलमीदृशम्॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि भिखारी, याचक केवल भीख ही नहीं माँगते। वे तो बिना वेतन घर-घर घूमकर उपदेशका काम करते हैं। वे अपना प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर कहते हैं कि 'भाइयो! दो, दो, दिये बिना नहीं मिलता। पूर्वजन्ममें हमने कोई दान-पुण्य नहीं किया था, इसीसे आज भीख माँगनेकी बारी आयी है। तुम्हारे पास आज जो कुछ है वह पिछले जन्ममें किये शुभ कर्मोंका ही फल है, इसलिये इस जन्ममें भी खूब दान-पुण्य करो। ऐसा न करोगे तो आज जो हमारी हालत है, वैसी ही हालत अगले जन्ममें तुम्हारी होगी। इसलिये दान-पुण्य करते रहो तो उससे तुम्हारा ही भला होगा।

परंतु आजका समझदार (!) आदमी चलता है उलटी राहपर। उसे चाहिये सुख, परंतु बीज बोता है दुःखके, उसको खाना है दूध-भात और उपजाता है कोदों, उसे खाना है गेहूँ और बोता है कुलथी। फिर चाहा हुआ फल न मिले तो दैवको दोष देता है। इस प्रकारके डेढ़ समझदार मनुष्यके स्वभावका वर्णन करते हुए श्रीव्यासजी कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

मनुष्य जानता है कि पुण्यकर्मका फल सुख है और उसको सुखकी आवश्यकता है, यह भी सत्य है। परंतु वस्तुतः वह पुण्यकर्म तो करता ही नहीं, बल्कि पापकर्म ही किये जाता है। दुःख किसीको भी नहीं चाहिये, फिर भी पापकर्म ढूँढ़-ढूँढ़कर करता है, तब फिर दुःखके सिवा और क्या मिल सकता है? इसलिये यदि सुख-शान्ति चाहिये तो खूब शुभ कर्म करो और अशुभको छोड़ दो। जो बोओगे, वही काटना पड़ेगा। बबूल बोकर आम खानेकी आशा रखना गलत है।

इस प्रकार प्रारब्धका स्वरूप जानकर उसमें विश्वास रखनेवाला व्यक्ति सुखमय जीवन बिताता है और जिसका इसमें विश्वास नहीं उसका जीवन हाय-हायमें चला जाता है। यह क्या कोई कम लाभ है?

एक दूसरी बात समझ लें। वर्तमान जीवनमें जैसे शरीरके निर्वाहके लिये मनुष्य प्रारब्धके अधीन है, उससे भी वह विशेष स्वतन्त्र है भावी जीवनका निर्माण करनेमें। भूतकाल तो लौटाया नहीं जा सकता, इसलिये प्रारब्धका भोग भोगनेके सिवा छुटकारा नहीं है। परंतु वर्तमान और भविष्य तो मनुष्यके हाथमें है। इसलिये भविष्यका निर्माण करनेमें वह सोलहों आने स्वतन्त्र है। यह बात श्रीकृष्ण भगवान्‌ने इस प्रकार समझायी है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(गीता २। ४७)

अर्थात् किये कर्मका फल भोगनेमें तुम जैसे सर्वथा परतन्त्र हो, उससे भी अधिक स्वतन्त्र हो वर्तमान शरीरसे कर्म करके परलोक सुधारनेमें।

मनुष्यकी इच्छा हो तो पापकर्म करके वह नरकमें जा सकता है। उसकी इच्छा हो तो शुभ कर्म करके स्वर्गमें भी वह जा सकता है और चित्त शुद्ध करके, ज्ञान-सम्पादन करके मुक्त होना हो तो वैसा भी कर सकता है। उसकी इच्छामें कोई बाधक नहीं हो सकता। निःसंदेह विरोधी वासनाएँ उसके मार्गमें अवरोध अवश्य करती हैं, परंतु मनुष्य जैसे फलभोगमें पराधीन है वैसे वह वासनाओंका दास नहीं है; क्योंकि वासनाओंका क्षय तो पुरुषके प्रयत्नसे हो सकता है, ऐसा करनेके लिये केवल दृढ़ निश्चय होना चाहिये (गी० ६। ३६)। मानव-जीवनकी सार्थकता भी इसीमें है।

यह बात उनके लिये है जिनका परलोकमें

और पुनर्जन्ममें विश्वास है। परंतु जिसका मन—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

यह जो दीखता है, इस शरीर और इस लोकके सिवा दूसरा कुछ नहीं, ऐसा जो मानता है, उसके लिये ये विचार कामके नहीं हैं। उसको तो बस, जन्म लेना, खाना-पीना और जीवन पूरा करना तथा पशुके समान परवश होकर मृत्युके शरणमें जाना है; वह तो पशुकी भाँति जन्मता है केवल मरणके लिये ही। परमात्मा सबको सन्मति दें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७६)

प्रतिदिन गोचारणके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रविष्ट होते थे सायंकाल। किंतु आज वे आ रहे हैं उस समय जब कि किरणमाली पूर्व क्षितिजकी ओटसे झाँकने लगे हैं। कालियदमनका वह दिन, दावानल-शमनकी वह निशा व्यतीत हो जानेपर व्रजेश्वरने अपने आवासकी ओर प्रस्थान किया तथा गो-गोप-गोपियोंसे परिवृत होकर नीलसुन्दर गोष्ठमें पधारे—

सुख कियौ जमुन-तट एक दिन-रैनि बसि,
प्रात हीं व्रज गईं गोप-नारी।
सूर-प्रभु स्याम-बलराम नँद-धाम गए,
मातु-पितु घोष-जननी-सुखकारी ॥

× × ×

जगत ईस प्रभु सक्ति अनंता। कृष्णदेव प्रभु श्रीभगवंता ॥
पुनि निज बंधु सहित जदुनाथा। प्रबिसे ब्रज हरषित एक साथा ॥
गोपी मुदित गान करु बानी। सुनत गेह पहुँचे सुखदानी ॥

एक बार यह प्रयास अवश्य किया गया कि गायें वनमें ही रह जायँ; उनके संचारणका समय तो प्रायः हो ही चुका है। पर वे पशु—भले ही वाणीके द्वारा अपने हृदयकी भावना व्यक्त न कर सकें—शरीरसे तो किसी अंशमें स्वतन्त्र हैं ही। वश चलते वे श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें कैसे रह जायँगे? गोपरक्षकोंकी वह चेष्टा सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुई। सबने स्पष्ट अनुभव कर लिया कि मनुष्योंकी भाँति ही वे पशु भी इस समय व्रजमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें नहीं रह सकते—

मनुष्या इव पशवोऽपि तं व्रजं प्रविशन्तं त्यक्तुं नाशक्नुवन्निति।
(वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, आज गोचारण स्थगित रहा। श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहारिणी क्रीड़ाएँ नन्द-प्राङ्गणमें, नन्दोद्यानमें एवं व्रजकी वीथियोंमें ही हुईं। वनमें होनेवाले विविध कौतुकोंकी एक झाँकी पाकर पुरसुन्दरियोंने अपने नेत्र शीतल किये। और आठ पहरमें ही अतीत दिवसकी सारी घटनावली उनके स्मृतिपथसे इतनी दूर चली गयी मानो कुछ भी हुआ ही न हो! सर्वत्र परमानन्दकी निराविल धारा प्रसरित हो रही है और उसमें अवगाहन करते हुए व्रजवासी अन्य सब कुछ भूल गये हैं। बस, स्मरण रह गया है उन्हें केवल यशोदा-नन्दनका। उन्हें देखते-देखते ही न जाने कब अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये और कब रजनी भी आकर, उषाका आलिङ्गनकर विदा हो गयी—यह भी उन्होंने नहीं जाना। सभीका अनुभव है—हम तो सदा व्रजमें ही थे, व्रजमें ही हैं, नीलसुन्दरकी दैनन्दिनी क्रीड़ा भी वैसे ही एकरस चल रही है। और इस समय वह देखो, वहाँ नन्द-प्राङ्गणमें गो-चारणके लिये वन जानेसे पूर्व व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको कलेवा करा रही हैं; नीलमणि भी अन्यान्य खाद्य-सामग्रियोंको किञ्चिन्मात्र होठोंसे स्पर्श कराकर अब केवल नवनीतका आस्वाद ले रहे हैं। कर-किसलयपर जननीके द्वारा रक्खे हुए नवनीत-ग्रासको मुखमें भरकर वे पुनः अपना हस्त-कमल सामने कर देते हैं एवं मैया पुनः उसपर ग्रास सजा देती हैं—

हरि ब्रज-जन के दुख-बिसरावन।
कहाँ कंस, कब कमल मँगाए, कहाँ दवानल-दावन ॥
जल कब गिरि, उरग कब नाथ्यौ, नहिं जानत ब्रज-लोग।
कहाँ बसे इक दिवस रनि भरि, कबहिं भयौ यह सोग ॥
यह जानत हम ऐसेहिं ब्रज मैं, वैसेहिं करत बिहार।
सूर स्याम जननी सों माँगत, माखन बारंबार ॥

इस प्रकार अबसे ग्रीष्मके अवसानतक, पुनः ग्रीष्मके आगमनतक एवं पावसकी अवधि समाप्तप्राय होनेतक श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ा निर्बाध चलती रही। व्रजमें, वृन्दा-काननमें—कहीं भी राक्षसोंके द्वारा कोई उत्पात न हुआ। हाँ, इसी वर्षा ऋतुके अन्तमें एक दिन जब मेघ पर्याप्त रूपसे

बरस चुके थे; विविध वन-क्रीड़ाओंसे श्रान्त होकर श्रीकृष्णचन्द्र एक वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे, गायें समीप ही तृण चर रही थीं—गोपशिशुओंने अग्रज बलराम एवं नीलसुन्दरके समीप एक नवीन प्रस्ताव रक्खा। बलराम एवं श्यामके प्रधान सखा श्रीदाम गोपने तथा सुबल एवं स्तोककृष्ण आदिने हँस-हँसकर, अतिशय प्रेमके सहित समीप आकर अपना मनोभाव बताया—

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २०)

श्रीदामा एक सखा सयाना। सुबल आदि प्रिय अपर सुजाना॥
बोले बचन बिहसि सुख मानी। कृपासिंधु सौं अति सनमानी॥

बालकोंके स्वरमें अद्भुत उत्साह है, पूर्ण आशा भरी है कि उनकी वह योजना उनके बलराम, उनका कन्नू—दोनोंके द्वारा स्वीकृत होकर ही रहेगी और वे अविराम कहते चले जा रहे हैं—'भैया राम! कितना सुख तुम हम सबको देते हो! और ओह! कितना बल है तुम्हारी इन भुजाओंमें! तथा भैया रे श्रीकृष्ण! तुम्हारा तो स्वभाव ही है दुष्टोंका दमन करते रहना। इसीलिये आज एक बात बताता हूँ; तुम दोनों सुन लो। देखो, यहाँसे कुछ ही दूरपर ताल-वन नामक एक सुविस्तृत वन है हो! और क्या कहें, उसमें न जाने ताल-वृक्षोंकी कितनी पंक्तियाँ सुशोभित हैं। इतना ही नहीं, तालके पके फल वहाँ गिरते ही रहते हैं; पहलेसे गिरे हुए भी अगणित फल वहाँ पड़े रहते हैं। किंतु यह सब होकर भी क्या हुआ! वहाँ तो एक अत्यन्त हिंस्र-स्वभावका दैत्य रहता है। धेनुक उसका नाम है। उसी दुष्टने सम्पूर्ण फलोंपर ही अपना अधिकार जमा रक्खा है। बलराम भैया! और प्राणसखा श्रीकृष्ण! सुनो, वह असुर गधेका रूप धारण किये रहता है। महाबलशाली है वह; और उसके साथ ही उसीके समान पराक्रमशाली उसके अन्य असंख्य भाई-बन्धु भी निवास करते हैं। हमारे शत्रुनाशन भैयाओ! मनुष्योंको तो मारकर वह खा जाता है। उस नर-मांसभक्षी राक्षसके भयसे मनुष्य, पशु-पक्षी—सबने ही उस वनको छोड़ दिया; कोई भी वहाँ नहीं जाता, तालफलोंका लाभ नहीं ले पाता; जब कि ऐसे सुस्वादु एवं सद्‌गन्धयुक्त फल आजतक किसीने खाये ही नहीं! बस, स्वयं अभी प्रत्यक्ष अनुभव कर लो—उन फलोंकी मनोहर सुगन्ध सर्वत्र फैल रही है; हम सभीको यहींसे उसकी स्पष्ट गन्ध मिल जो रही है। भैया रे श्रीकृष्ण! इस गन्धसे तो हम सबोंका मन ही लुब्ध हो गया; हमें तुम तालफल अवश्य खिला दो! दाऊ दादा! हमारी प्रबल इच्छा है इन फलोंको पा लेनेकी, भोजन करनेकी! बस, अब देर न करो। यदि हमारा प्रस्ताव तुम्हें रुचिकर लगे तो वहाँ अवश्य चलो दादा!'

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसंकुलम्॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन्।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम्॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम्।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २१–२६)

राम राम हे यदुकुल भूपन। अहो कृष्ण अघ-दनुज-विदूषन॥
इत तैं निकट ताल-बन सुंदर। सघन सुहावन फल सुख-मंदिर॥
गिरे गिरत फल पक्व सुहावन। छिति छपि रही अमिय सम पावन॥
है परंतु धेनुक अति घोरा। रोक्यो तिन सब फल चहुँ ओरा॥
अति बिसाल बल काल समाना। खर सरूप तन कुलिस प्रमाना॥

ताहि सरिस बल अपर बहु, ग्याति तासु अति घोर।
नर अहार संतत करैं, कुमती कठिन कठोर॥

तेहि भयभीत मनुज नहिं जाहीं। पसु पंछी नहिं निकट रहाहीं॥
फल अमुक्त-पूरब जदुनंदा। अति सौरभ फल हैं सुख-कंदा॥
अनिल संग यह सुरभि अनूपा। मन कहँ खैंचि लेइ सुखरूपा॥
मन लोभित फल चाह बिसेखी। दीजिय नाथ कृपा हिय पेखी॥
हे बलदेव चाह चित भूरी। चलिय नाथ कीजै रुचि पूरी॥
जो इच्छा प्रभु होइ तुम्हारी। चलहु नाथ तौ जन सुखकारी॥

× × ×

भारी भूख लगी है, चलौ। भैया, बहुत मानिहैं भलौ॥

गोपशिशुओंका यह निवेदन पूर्ण होते-न-होते राम-श्याम दोनों भाई उठकर खड़े हो गये। उनके नित्य-प्रफुल्ल

वदनारविन्दपर एक अभिनव उल्लासकी लहर-सी बह चली। दोनों ही हँसे और उनके उस उन्मुक्त हास्यसे समस्त अरण्यप्रान्त गूँज उठा। फिर बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण एवं बलराम तत्क्षण उन अपने सुहृद् बन्धुओंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तालवनकी ओर चल ही तो पड़े। हँसते हुए वे असंख्य बालक भी उनके साथ चले जा रहे हैं। देखते-देखते ही तालवनकी सीमा भी आ पहुँची। यह लो, यह रही तालवनकी समतल, स्निग्ध सुविस्तीर्ण कृष्णवर्ण मृत्तिकामयी भूमि! वे खड़े हैं तालके उत्तुङ्ग वृक्ष! बस, बलराम तो दौड़ पड़े। किसीके पहुँचनेसे पूर्व ही रोहिणी-नन्दनने वहाँ जाकर ताल-वृक्षोंको अपनी भुजाओंमें भर लिया और एक करिशावक मानो कदली वृक्षोंको प्रकम्पित कर रहा हो—इस प्रकार उन्हें बड़े वेगसे हिलाकर क्षणोंमें ही राशि-राशि फल भूमिपर गिरा दिये—

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २७-२८)

सुनतहिं चले सु लागत भले। ऐसें दुष्ट किते दलमले॥
आगें भये विहँसि बलराम। पाछें करि लये मोहन स्याम॥
× × ×
बिहँसत हरि सँग चले गुवाला। नाचत-गावत गुन गोपाला॥
× × ×
गए ताल-वन राजत दोऊ। मत्त गयंद सारस सुठि सोऊ॥
गहन जाइ बलकर गहि ताला। दियउ हलाइ गिरि फल-जाला॥
× × ×
सो सुनि कैं जुग बंधु चले मिलि संग सखा जु प्रमोद भरे रस।
सुंदर रम्य अरन्य लख्यौ बन पठत अग्रज अग्र भये हँस॥
मंजुल पक फरे-फल पुंजन गुंजन भौंर प्रसून भरं तहँ।
राम कँपावत ब्रक्ष समूह झरे फल-फूल ढरे छिति प जहँ॥
झरत सुमन-फल गिरत तहँ बिथुरत विपुल रसाल।
भरत गोद हरवर धरत करत कुलाहल बाल॥

समीपमें ही अवस्थित धेनुकके कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ इतने ताल फलोंके गिरनेका घनघोर शब्द प्रविष्ट हो गया। तुरंत ही उसने अपनी हिंस्र आँखें फिराकर इस ओर देखा और दीख पड़े राम-स्याम तथा आनन्द कोलाहल करते हुए वे असंख्य गोप-शिशु! अब तो धेनुकके रोषका क्या कहना है! उसके विशाल पर्वताकार गर्दभ-शरीरका रोम-रोम क्रोधसे जल उठा। द्रुतगतिसे वह चल पड़ा उसी ओर, जहाँ बलराम तालके समीप खड़े हँस रहे हैं। उसे आनेमें भी कितनी देर लगती। जिस वेगसे वह चला है, उससे—उसके पदभारसे पर्वतके सहित सम्पूर्ण पृथ्वीतल प्रकम्पित जो हो रहा है। बस, आधे क्षणसे पूर्व ही मानो एक प्रकाण्ड पर्वत ही उड़ता-सा आया हो—इस प्रकार वह बलरामके पास आ पहुँचा। और आकर तनिक रुके यह बात भी नहीं, उस महाबलवान् क्रूर-स्वभाव दैत्यने अपना मुँह फिराया तथा पीछेके दोनों पैरोंको उठाकर एक भरपूर दुलत्ती रोहिणीनन्दनके वक्षःस्थलपर उसने मार ही तो दी। साथ ही यह प्रहार कर चुकनेपर अत्यन्त कर्कश स्वरमें वह रेंक उठा और रेंकता हुआ ही चारों ओर घूमने लगा। दूसरी दुलत्तीके प्रहारकी ताकमें धेनुकने दुष्टताकी सीमा पार कर ली!—

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥
समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २९-३०)

फल के गिरत सोर चहुँ ओरा। धायो अकनि असुर खल घोरा॥
चलेउ रोष भरि छोम करि, गिरि सम काय बिसाल।
कंपित छिति गिरि द्रुमसहित, अतिसै क्रूर कराल॥
आइ तुरित जहँ हलधर ठाढ़े। जुगुल पाय उर में हनि गाढ़े॥
करि खर नाद मूढ़ सठ घोरा। भ्रमत भयौ बल के चहुँ ओरा॥
× × ×
सोर सुनत अति जोर भरो धेनुक धरि धायव।
रासभ रूप उमंडि मंडि रन सनमुख आयव॥
फल लखि वड्डिव रोस घोस घन रोस सुबोलत।
धमकत धरनि धधाय भूमि भूधर सब डोलत॥
करि श्रवन पुच्छ उन्नत तजतु घ्रान रंध्र स्वाँसानि सुर।
लखि महाबली बलभद्र कहँ पिछले पग घालत असुर॥

किंतु बलराम तो अभी भी वैसे ही हँस रहे हैं। अवश्य ही गर्दभरूपधारी असुर पुनः आ पहुँचा है उनके अत्यन्त निकटमें ही और क्रोधसे सर्वथा अधीर हो रहा है वह! पुनः उसने उनकी ओर पीठ कर ली और फिर अत्यन्त क्रोधसे पिछले पैरोंकी दुलत्ती भी चला ही दी। पर इस बार अपने वक्षःस्थलपर उसके पैर आनेसे पूर्व ही रामने अपना वामहस्त

आगे बढ़ा दिया; बढ़ाकर उसके पैरके अग्रभागको पकड़ लिया। धेनुककी कोई अन्य चेष्टा तो अब होनेसे रही, क्योंकि राम उसे आकाशमें उठाकर अलात-चक्रकी भाँति बारंबार घुमा रहे थे और वह विवश घूम रहा था। बस, कुछ ही क्षण घूमनेमें उसके प्राण भी घूमकर बाहर निकल आये तथा उसके जीवनशून्य शरीरको रामने तालवृक्षपर फेंक दिया—

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा॥
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३१-३२)

पुनि करि क्रोध निकट चलि आवा। बल सनमुख निज बल देखरावा॥
पिछले जुग पद जोरि गँवारा। पुनि बल उर कहुँ कोउ प्रहारा॥
आवत चरन देख बल जवहीं। पकरि लियो पग जुग कर तवहीं॥
एक पानि गहि ताहि घुमाई। पटकि ताल तरु प सुख पाई॥
भ्रमतहिं प्रान गयो चलि तासू। मर्यो अघी अपने अघ आसू॥

× × ×

बल उद्धत बलराम महाबल झपटि धर्यो झुकि असुर कठोर।
कर पर हरवर फेरि फिरावत उल्लारत झारत झकझोर॥
तरवर-मूल भूमि गहि पटक्यौ, झटक्यौ चट-चट फटक्यौ फेरि।
झहरत प्रभु हहरति वसुधा तहँ मभरि भगे मृग गन तेहि बेरि॥

उस मृतदेहके प्रबल आघातसे तालका वह उत्तुङ्ग एवं अत्यन्त सुपुष्ट वृक्ष तड़-तड़कर, चूर्ण-विचूर्ण होकर गिर पड़ा। केवल वह गिरा, इतना ही नहीं, उसने अपने पार्श्ववर्ती सटे वृक्षको भी प्रकम्पित कर तोड़ डाला। पुनः उसने तीसरेको, तीसरेने चौथे पार्श्ववर्ती तालको—इस प्रकार एक दूसरेको धराशायी करते हुए न जाने कितने ताल-वृक्ष टूटकर खण्ड-खण्ड हो गये। रोहिणीनन्दनकी तो यह एक क्रीड़ा हुई, एक साधारण-सा खेल खेलते हुए ही रामने उस मृत देहको फेंका था। किंतु वह आघात इतना भीषण था कि उस वनके समस्त ताल-वृक्ष ही प्रकम्पित हो उठे—मानो किसी अत्यन्त प्रबल झंझावातके वेगसे वे विताड़ित हो गये हों!—

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३३-३४)

एहि विधि नृप धेनुक बल मार्यो। गिर्यो तार लै बहु छिति डार्यो॥
तार तारु लै गिरि अनेका। को गनि सक अस काहि विवेका॥

× × ×

परे जु तारु बिसाल सु पेसैं। प्रबल पवन के मारे जैसैं॥

श्रीबलरामके आघातसे ऐसा हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है। इन्हीं सर्वैश्वर्यनिकेतन अनन्त जगन्नियन्तामें ही तो यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत् सूत्रमें वस्त्रकी भाँति ओतप्रोत है। क्या महत्त्व बढ़ता है उनका इन तुच्छातितुच्छ घटनाओं-को घटित कर देनेसे?

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥
(श्रीमद्भा० १०।१५।३५)

जो हो, इस सम्बन्धमें कुछ क्रीड़ा अवशिष्ट रही थी, वह भी पूरी हो गयी। धेनुकके बन्धु-बान्धव अपने स्वजनका यह आकस्मिक प्राण-नाश देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे; प्रतिहिंसाकी आगमें जलते हुए वे राम-श्यामकी ओर अग्रसर हुए। गधोंका दल एकत्र हो गया। फिर तो अग्रज एवं नीलसुन्दरको भी कौतुक करना ही था। खेल आरम्भ हुआ। खेलते हुए दोनों भाई जो भी समीप आता, उसकी पिछली टाँगें पकड़कर तालवृक्षपर दे मारते अथवा अन्य कौतुक करते हुए उनका कचूमर निकाल देते। देखते-देखते वहाँकी सम्पूर्ण भूमि तालफलोंसे, भग्न तालवृक्षोंके अग्रभागसे एवं दैत्योंके मृतदेहोंसे पट गयी। क्षितितलने एक विचित्र-सी शोभा धारण कर ली—वैसी शोभा जो विविध वर्णोंके मेघसे आवृत होनेपर आकाशकी हो जाती है!—

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥
फलप्रकरसंकीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३६-३८)

राम स्याम प्रभु लीला बाढ़े सठ मारे इक भुजा उखार।
तोरत सीस सीस सों फोरत ढोरत धर धरनी के भार॥

इक पग पकरि उच्च गहि पटकत छी मुरकत खल अमर अगार ।
जिमि घन सघन गगन महँ छाये भ्रमत भयानक इमि अनुहार ॥

× × ×

परे बिसाल ताल इमि मही । बिच-बिच गर्दम परत न कही ॥
ज्यों रवि अस्त होत आडंबर । कारे-पियरे बादर अंबर ॥

अब अन्तरिक्षसे देवगण कुसुमोंकी वर्षा करने लगते हैं। साथ ही उनके 'जय-जय' घोषसे कानन प्रतिनादित हो उठता है—

हरखत हिय बरखत कुसुमावलि ब्रंदारक के ब्रंद अपार ।
जय-जय धुनि जन करत मगन मन अतुल पराक्रम प्रभुहिं निहार ॥

भगवान् श्रीसीतारामजीका ध्यान

कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥

सब लोग सावधानीके साथ एक चित्तसे श्रीअवधमें चले चलिये । बड़ा सुन्दर रमणीय श्रीअवधधाम है। चक्रवर्ती महाराज अखिलभुवनमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् भगवान् श्रीराघवेन्द्रजीकी बड़ी रमणीय पुरी है। रामराज्यकी सब प्रकारकी शोभा, रामराज्यकी आदर्श समाज-व्यवस्था श्रीअवधमें वर्तमान है। सभी ओर सब कुछ सुशोभन है । कलुप-नाशिनी श्रीसरयूजी मन्द-मन्द वेगसे बह रही हैं। श्रीसरयूजीके तटपर श्रीराघवेन्द्रका विहार-उद्यान है। फलों और पुष्पोंसे सुसज्जित बड़ा सुन्दर बगीचा है। बगीचेमें चारों ओर बड़े सुन्दर और मनोहर पुष्पोंसे सुशोभित वृक्ष हैं । उनमें भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं। उनके विविध प्रकारके सौरभसे सारा उद्यान सुरभित हो रहा है। पुष्पोंपर भौंरे मँडरा रहे हैं। पुष्पोंकी रंग-विरंगी शोभासे सभी ओर सुषमा छा रही है। फलोंके वृक्ष विविध फलोंके भारसे लदे हैं। बीचमें एक बड़ा मनोहर सरोवर है। सरोवरमें कमल खिले हुए हैं। सरोवरके भीतर जलपक्षी केलि कर रहे हैं। चारों ओर सुन्दर-सुन्दर घाट हैं। सरोवरके उत्तर ओर एक बड़ा सुन्दर कल्पवृक्ष है। सघन और फैला हुआ है। कल्पवृक्षके नीचे बहुत बढ़िया स्फटिक मणिका सिंहासन बना हुआ है। चारों ओर विविध पुष्पोंकी लताएँ बिखरी हुई हैं। उनमें विविध भाँतिके सुन्दर-सुरभित फूल खिले हुए हैं। संध्याका समय है। बड़ा सुन्दर और सुगन्धित मन्द-मन्द समीर बह रहा है । इस मनोहर पुष्पोद्यानमें श्रीराघवेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और अखिल जगत्की जननी श्रीजानकीजी नित्य संध्याके समय पधारा करते हैं। उस समय उनके साथ कोई सेवक नहीं रहता है, केवल श्रीहनुमान्जी साथ रहते हैं।

आज भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपनी सारी सुषमाके साथ—समस्त शोभाओंसे सुशोभित, सौन्दर्य-माधुर्यमण्डित विश्वजननी श्रीजनकनन्दिनीके साथ पधारे हैं। भगवान् बड़ी मन्दगतिसे धीरे-धीरे सरोवरके निकट चले आते हैं। पीछे-पीछे श्रीहनुमान्जी हैं। श्रीभगवान् उत्तर तटकी ओर पधारे हैं। सुन्दर वितानवाले कल्पवृक्षके नीचे स्फटिकमणिकी मनोहर एक पीठिका है। उस स्फटिक मणिके सुन्दर सिंहासनपर बहुत ही बढ़िया और सुकोमल दूर्वाके रंगका एक गलीचा बिछा हुआ है, उसके पीछे दो तकिये लगे हुए हैं; दोनों ओर दो सुन्दर मसनद हैं। चौकीके सामने नीचेकी ओर चरण रखनेके लिये दो पादपीठ सुसज्जित हैं। उनपर दो सुन्दर कोमल गद्दी बिछी हुई हैं। सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर मरकत मणिकी नीची चौकीपर श्रीहनुमान्जीके लिये आसन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीजनकनन्दिनीजीके साथ गलीचेवाले स्फटिक मणिके सिंहासनपर विराजमान हो गये हैं। श्रीहनुमान्जी सामने बैठ गये हैं। भगवान् श्रीरामके नेत्रोंकी ओर किसी आज्ञाकी प्रतीक्षामें टकटकी लगाकर देखने लगते हैं। भगवान् श्रीरामका बड़ा सुन्दर स्वरूप है। भगवान्के श्रीअङ्गका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है—नीला, नीलेमें कुछ हरी आभा, उसपर उज्ज्वल प्रकाश।...... 'केकीकण्ठाभनीलम्' जैसा मयूरके कण्ठकी नीलिमामें हरित आभा होती है......चमकता रंग होता है। इस प्रकार श्रीभगवान्के अङ्गका रंग नीलहरिताभ-उज्ज्वल है। बड़ी ही सुन्दर आभा है—दिव्य चमकता प्रकाश। भगवान्के श्रीअङ्गका वर्णन आता है—

'नीलसरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।'

नीले सुन्दर कमलके समान भगवान्के कोमल अङ्ग हैं, नीलमणिके समान अत्यन्त चिकने और चमकते हुए अङ्ग हैं, नव-नील-नीरद—जलवाले बादलोंके समान सरस अङ्ग हैं। सरसता, सुकोमलता और सुचिक्कणता बड़े प्रकाशके साथ सुशोभित हैं। एक-एक अङ्ग इतने मनोहर, मधुर और आकर्षक हैं कि करोड़ों कामदेव एक-एक अङ्गपर निछावर

हो रहे हैं। इनकी उपमा कही नहीं जा सकती है। शोभा अतुलनीय और निरुपम है। श्रीभगवान्‌के अङ्ग-अङ्गसे मनोहर सुस्निग्ध ज्योति निकल रही है। सहस्रों, लक्षों, कोटि-कोटि सूर्यका प्रकाश है······पर उसमें तनिक भी उत्ताप नहीं है, दाहकता नहीं है। करोड़ों चन्द्रमाकी शीतलता साथ लिये हुए है। सूर्यकी तीव्र प्रकाशमयी उष्णता और चन्द्रमाकी सुधावर्षिणी ज्योत्स्नामयी शीतलताका समन्वय—दोनोंका एक ही समय, एक ही साथ रहना कैसा होता है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। श्रीभगवान्‌के रोम-रोमसे एक प्रकार-की दिव्य ज्योति निकल रही है, जो अपनी आभासे समस्त प्रदेशको ज्योतिर्मय बनाये हुए है। भगवान्‌ने ज्योतिर्मय पीतोज्ज्वल रंगका दिव्य वस्त्र परिधान किया है, उसमें लाल पाड़ है। पाड़की लालिमा भी उज्ज्वल प्रकाशमयी है। उस वस्त्रके सुन्दर स्वर्णमय प्रकाशके भीतरसे नील-हरिताभ अङ्ग-ज्योति निकल-निकलकर एक विचित्र-विलक्षण रंगवाली आभा बन गयी है। नील-हरिताभ-उज्ज्वल ज्योतिके साथ-साथ भगवान्‌के स्वर्णवर्ण पीताम्बरकी पीताभ ज्योति मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति बन गयी है, जिसे देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। उसको देखते ही बनता है। भगवान्‌की पीठपर गलेसे आता हुआ एक दुपट्टा लहरा रहा है, उसका स्वर्ण-अरुण वर्ण है। भगवान्‌के श्रीचरण बड़े सुन्दर, सुकोमल और अत्यन्त मनोहर हैं। श्रीभगवान्‌का वाम श्रीचरण नीचेकी पादपीठपर टिका है। दक्षिण श्रीचरणको भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपनी वाम जंघापर रक्खा है, जिसका तल जगज्जननी जानकीजीकी ओर है। भगवान्‌के श्रीचरण-तल बड़े मनोहर और सुन्दर हैं, उनमें ध्वजा, वज्र, कमल आदिकी अति सुन्दर रेखाएँ स्पष्ट हैं। चरण-तल सुकोमल अरुणाभ हैं, उनमें लाल-लाल ज्योति निकल रही है। भगवान्‌के श्रीचरणोंकी अङ्गुलियाँ, जो एक-से-एक छोटी अंगुलीसे अंगूठेतक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं, परम सुशोभित हैं। भगवान्‌के श्रीचरणोंसे एक ज्योति निकल रही है, चरणतलसे ज्योति निकल रही है, चरण-नखसे विद्युत्‌की तरह सुस्निग्ध मनोहर ज्योति निकल रही है, बड़ी सुन्दर प्रकाशमयी है; उसकी ज्योति-किरण जिस-जिसके समीप जाती है, उसी-उसीमें ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाता है। यह उनकी चरण-कमल-प्रभाका सहज प्रसाद है। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें नूपुर है। जाँघ और घुटने बड़े सुन्दर हैं। जाँघ बड़ी सुकोमल, बड़ी स्निग्ध, सुचिक्कण और अत्यन्त शोभामयी है। भगवान्‌की कटि अति सुन्दर है, भगवान्‌ने उसमें रत्नोंकी—दिव्य रत्नोंकी—दिव्य स्वर्णकी करधनी पहनी है, उस करधनीमें नवीन-नवीन प्रकारके छोटे-बड़े मुक्ता लटक रहे हैं, बीच-बीचमें—मुक्ताओंके बीचमें मधुर ध्वनि करनेवाली घुँघुरियाँ लगी हैं। भगवान्‌का उदर देखा बड़ा सुन्दर है; गम्भीर नाभि है, उदरमें तीन रेखाएँ हैं। भगवान्‌का वक्षःस्थल बड़ा चौड़ा है, विशाल है। वक्षःस्थलमें बायीं ओर भृगुलताका चिह्न है, दाहिनी ओर पीत-केशर वर्णकी मनोहर रेखा है—श्रीवत्सका चिह्न है। भगवान्‌के विशाल वक्षःस्थलपर अनेक प्रकारके आभूषण सुशोभित हैं, गलेमें पहनी हुई रत्नमाला है, मुक्तामणिके हार हैं, कौस्तुभ-मणि है। राजोद्यानके सुन्दर-सुन्दर विचित्र पुष्पोंकी माला है, पुष्पोंका हार है, जो सारे वक्षःस्थलको आच्छादित करते हुए नाभिदेशतक लटक रहा है। कटितटतक नीचे पुष्प-हारसे सुगन्ध निकल रही है, उस पुष्पहारपर भ्रमर मँडराते हैं, मधुर गुंजार कर रहे हैं। भगवान्‌के कंधे बड़े मजबूत·· सुदृढ़ बड़े ऊँचे हैं—केहरिकंध—सिंहके समान कंधे हैं। भगवान्‌की विशाल बाहु हैं, आजानुबाहु हैं, भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी हैं। ऊपर मोटी—हाथीकी सूँडकी तरह, नीचे पतली हैं। इतनी सुडौल और सुन्दर हैं कि देखते ही चित्त मुग्ध हो जाता है। वे भुजाएँ सारे जगत्‌की रक्षाके लिये, साधु-रक्षा और असाधुके विनाशके लिये नित्य प्रस्तुत हैं। विशाल बाहुमें बाजूबंद हैं, उनमें नीलम, पन्ना और हीरे जड़े हुए हैं। उन दोनों बाजूबंदोंके बीचमें एक-एक लड़ लटक रही है, लड़में बड़े सुन्दर महामूल्यवान् रत्न जड़े हुए हैं। भगवान्‌के पहुँचोंमें रत्नोंके कड़े हैं, उनसे ज्योति निकल रही है। भगवान्‌के करकमलोंकी अङ्गुलियोंमें रत्नोंकी अंगूठियाँ सुशोभित हैं, जो एक-से विचित्र हैं। भगवान्‌के श्रीअङ्गका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है, पीताम्बरका वर्ण स्वर्ण-शुभ्र उज्ज्वल है। भगवान्‌के विविध आभूषणोंके भाँति-भाँतिके रत्न अलग-अलग वर्णोंकी आभा बिखेर रहे हैं, भगवान्‌के चारों ओर मिलकर विचित्र ज्योति छिटक रही है; विलक्षण शोभा हो रही है, मनुष्य न तो कुछ कह सकता है, न वर्णन कर सकता है। कम्बुकण्ठ है—गलेमें रेखाएँ हैं। भगवान्‌की बड़ी सुन्दर ठोड़ी है। अधरोष्ठ अरुण वर्णके हैं, मनोहर स्वाभाविक मन्द-मन्द उनकी मुसकान है। मन्द हास्य सबको विमोहित कर रहा है। दन्तपंक्ति बड़ी ही सुन्दर है, मानो हीरे चमक रहे हैं,

उज्ज्वलता है, ज्योति निकल रही है और अरुण अधरोष्ठपर पड़कर विचित्र शोभा उत्पन्न कर रही है। भगवान्‌के सुन्दर सुचिक्कण कपोल हैं। उनकी नुकीली नासिका है। भगवान्‌के दोनों कान बड़े मनोहर हैं, उनमें मछलीकी आकृतिके बड़े सुन्दर रत्नोंके कुण्डल चमचमा रहे हैं। भगवान्‌के नेत्र बहुत बड़े हैं, बहुत विशाल हैं। भगवान्‌के नेत्रोंसे कृपा, शान्ति और आनन्दकी धारा अनवरत निकल रही है। भगवान्‌की सुन्दर नेत्र-ज्योति है। मनोहर टेढ़ी भृकुटि है, जो मुनियोंके मनको हर लेती है। जिन्होंने एक बार दर्शन किया, वे सारे साधन भूलकर, जीवन भूलकर भगवान्‌के श्रीचरण-प्रान्तमें निरन्तर निवास करनेका मनोरथ करते हैं। भगवान्‌का विशाल ललाट है, उसपर तिलक सुशोभित है, दोनों ओर श्वेत रेखा है और बीचमें लाल रेखा है, इस प्रकार भगवान्‌के ललाटपर तिलक है। उनका विशाल भाल है, मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश हैं, मानों अगणित भ्रमर मँडरा रहे हैं। भगवान्‌की मनोहर अलकावली मुनियोंके मनको हरनेवाली है। उनके मस्तकपर सुन्दर रत्नोज्ज्वल किरीट है, इतना चमकता है, इतना बढ़िया है, उसमें इतने रत्न जड़े हैं कि उसकी शोभाका वर्णन नहीं किया जा सकता; इतना हल्का और पुष्प-सा कोमल है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌के वस्त्र-आभूषण—सब-के-सब दिव्य हैं, चेतन हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्रके दाहिने कंधेपर धनुष है, बायें हाथमें बाण सुशोभित हैं, पीछे कटिमें बाणोंका माथा बँधा हुआ है। भगवान् दाहिने हाथमें सुन्दर पुष्प लिये हुए हैं, रक्त-कमलका सुन्दर सुशोभित पुष्प है—बड़ा मधुर सुगन्धयुक्त, छोटा-सा अनेक दलोंका कमल है, उसकी नालको पकड़े घुमा रहे हैं। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र कल्पवृक्षके नीचे स्फटिकमणिके सिंहासनपर हरिताभ गलीचेपर विराजमान हैं।

वाम पार्श्वमें श्रीजनकनन्दिनीजी विराजमान हैं। उनके दोनों अति कोमल श्रीचरणकमल नीचेकी पादपीठपर विराजित हैं। उनका पवित्र सुन्दर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण है, सोनेके समान वदनकी आभा है, पर सोनेकी भाँति कठोर नहीं है। सोनेकी भाँति चमचमाते हुए माताजीके समस्त अङ्ग अत्यन्त सुकोमल और तेजसे युक्त हैं। करोड़ों सूर्य-चन्द्रकी शीतल प्रकाशमयी उज्ज्वल ज्योतिधारा उनके श्रीअङ्गसे वैसे ही निकल रही है, जैसे भगवान् श्रीरामके श्रीअङ्गसे। श्रीसीताजी विविध भूषणोंसे सज्जित हैं, नीलवर्णके वस्त्र हैं, वक्षःस्थलपर आभूषण हैं, बायें हाथमें पुष्प है, दाहिने हाथसे कर्ण-कुण्डलको सुधार रही हैं। जंघापर रक्खे भगवान्‌के श्री-चरणतलकी ओर जनकनन्दिनीके दिव्य नेत्र लगे हैं—पलक नहीं पड़ती है, वे श्रीरामके चरणतलके दर्शनानन्दमें विभोर हैं, दूसरी ओर उनका दृष्टिपात ही नहीं है। भगवान्‌की नील-हरिताभ-उज्ज्वल आभावाली ज्योति नित्य नयी छटा दिखा रही है। उसके साथ श्रीजनकनन्दिनीजीकी स्वर्णिम अङ्ग-ज्योति, उनके नीलवस्त्रकी ज्योति, आभूषणोंकी ज्योति—सब मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति चारों ओर छिटक रही है। उसकी शोभा अवर्णनीय है।

सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर नीचे मरकतमणिके आसनपर श्रीमारुतिजी विराजमान हैं। उनके श्रीअङ्गका पिंगल वर्ण है, जो उज्ज्वल आभासे युक्त है। लाल वस्त्र पहने हुए हैं, सब अङ्गोंपर श्रीरामनाम अङ्कित हैं; हृदयदेश मानो दर्पण है, उसमें स्फटिकमणिके सिंहासनपर विराजमान श्रीराम-जानकी प्रतिबिम्बित हैं। उनके नेत्रोंसे अविरत प्रेमाश्रुधारा बह रही है, टकटकी लगाये हुए हैं। श्रीरामके नेत्रकी कृपाधारामें नहाते अपने आपको कृतकृत्य मान रहे हैं। शरीर रोमाञ्चित है। मुखमण्डल ज्योतिसे झलमला रहा है। शरीर आनन्दसे पुलकित है, आनन्दका अनुभव करते हुए विशेष आज्ञाकी प्रतीक्षामें वे निर्निमेष नेत्रोंसे श्री-राघवेन्द्रकी ओर निहार रहे हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीराम-जानकी श्रीहनुमान्‌के साथ विहार-उद्यानमें विराजमान हैं। मन्द-मन्द समीर बह रहा है, समीप ही सरयूकी मन्द धारा है, अनेक प्रकारके पक्षी चहचहा रहे हैं, वनकी शोभा अत्यन्त मनोहर हो रही है। भगवान्‌का यह स्वरूप अत्यन्त मनोहर सुन्दर है, सुषमा वर्णनातीत है। कोई भी किसी कालमें वर्णन नहीं कर सकता, देखनेसे मन मुग्ध हो जाता है। यों जब हृदयमें श्रीराम आते हैं, तब मारुतिकी तरह शीतल अश्रु-धारा बहती है, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। इस मनोहर ध्यानमें मग्न हो जाना चाहिये।

इस प्रकार भगवान् सामने हैं, उन्हें मनके द्वारा आप देख सकते हैं। तन्मयता होनेपर ध्यान हो सकता है। बड़ा सुन्दर ध्यान है। इसमें मन लग जाय तो क्या कहना है।

ईश्वर ध्येय और ज्ञेय

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चटर्जी एम० ए०)

[गताङ्क पृष्ठ ८२५से आगे]

इसी प्रकार नवम अध्यायमें भी ईश्वरकी जय-गाथा है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महिमा, ऐश्वर्य, बल-वीर्यका वर्णन करते हैं। इसमें हम पाते हैं—ईश्वर अपनी अव्यक्त मूर्तिसे जगत्को व्याप्त किये हुए हैं; उनमें सब भूत स्थित होते हुए भी स्थित नहीं हैं। ईश्वरका आत्मा सब भूतोंका धारण और उत्पन्न करनेवाला होते हुए भी भूतोंमें स्थित नहीं है। ईश्वरमें सब भूत उसी प्रकार स्थित हैं जैसे वायु आकाशमें। कल्पके अन्तमें सब भूत ईश्वरमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें ईश्वर अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठान होते हुए फिर उनकी रचना करते हैं। परंतु इन कर्मोंमें ईश्वर उदासीन हैं। उनकी अध्यक्षतामें प्रकृति सृष्टिकी रचना करती है। मूढ़ लोग ईश्वरके परमभावको न समझकर उन्हें मनुष्य-शरीरधारी मात्र समझते हैं। दैवी-प्रकृतिसम्पन्न महात्मा लोग ईश्वरको भूतोंका आदि-अव्यय-कारण समझकर भजते हैं। ईश्वर श्रौत और स्मार्त कर्म, स्वधा, औषध, मन्त्र, घृत, अग्नि, हवन हैं। ईश्वर इस जगत्के पिता, माता, धाता, पितामह, ज्ञेय-वस्तु, पवित्र ओंकार, ऋक्, साम, यजुर्वेद हैं। ईश्वर सबकी गति, भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी, शुभाशुभ-द्रष्टा, आश्रय-स्थान, भयत्राता, सुहृद् हैं। ईश्वर उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-स्थान हैं और अविनाशी-कारण हैं। ईश्वर आदित्यरूप हैं, वर्षामें वारिरूप हैं, अमृत और मृत्युरूप हैं, सत् और असत् हैं। अनन्यभावसे भजनकारीके लिये ईश्वर स्वयं योगक्षेम वहन करते हैं। ईश्वर सब यज्ञोंके यज्ञेश्वर और भोक्ता हैं; अन्य देवताओंका पूजन उन्हींका पूजन है। ईश्वरकी पूजा सुगम है; उनको सर्वकर्म समर्पण करने चाहिये, इसीसे भगवत्प्राप्ति होती है। ईश्वर सब भूतोंमें समभावसे स्थित हैं। भक्तोंपर वे विशेष कृपा करते हैं, चाहे वे दुराचारी हों या पापयोनिवाले हों। अतः वाक्-काय-मानससे ईश्वरपरायण होकर उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना ईश्वरादेश है।

उपर्युक्त दोनों अध्यायोंसे अष्टम अध्याय विलक्षण है। इसमें 'ईश्वर-वाद'की विवृत्ति एक ही दृष्टिकोणसे है। प्रयाण-कालमें और कालान्तरमें प्राप्य ईश्वरका स्वरूप इसमें वर्णित है। सप्तम और अष्टम अध्यायोंकी साधन-प्रणालीसे जीवन-कालमें ही मनुष्य ईश्वरप्राप्तिका परम सौभाग्य लाभ कर सकते हैं। परंतु अष्टम अध्यायमें मरणान्तर गति-तत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। पाँचवें श्लोकसे शेष अट्ठाईसवें श्लोकतक अन्तकालका चिन्तन, पुनरावृत्तिसे निष्कृति और परमधाम-प्राप्तिका उपाय, पितृयान और देवयान इत्यादि प्रसङ्ग हैं।

इन अध्यायोंमें ईश्वरका जो स्वरूप निरूपण किया गया है, वह कहीं ज्ञेय है और कहीं ध्येय। श्रीमधुसूदनजी गीताकी टीकामें लिखते हैं, षष्ठ अध्यायके अन्तमें जो श्लोक है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—जो श्रद्धावान्, मुझमें आसक्तचित्त होकर मुझको भजता है, वह मेरे मतमें सब योगियोंसे श्रेष्ठतम है—

सप्तम अध्यायमें उसका अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा गया है और भगवद्-भजनके निमित्त ध्येय ब्रह्मका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। और कहते हैं कि सप्तम अध्यायके अन्तमें जो श्लोक हैं—

> जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
> ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
> साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
> प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

इन दो श्लोकोंके द्वारा उत्तम अधिकारियोंके लिये जो ज्ञेय है और मध्यम अधिकारियोंके लिये जो ध्येय है—'तत्' -पदका प्रतिपाद्य है—वह ब्रह्म यहाँ निरूपित है। यह भी उनका मत है कि अष्टम अध्यायमें ध्येय ब्रह्मका स्वरूप निर्णय कर, जो उस ब्रह्मके ध्यानमें युक्त रहते हैं, उनकी क्या गति होती है, यह दिखाया गया है; और नवम अध्यायमें ज्ञेय ब्रह्मका स्वरूपनिर्णयपूर्वक ज्ञानपरायण व्यक्तिकी क्या गति होती है, वर्णित है।

परंतु ब्रह्मके विषयमें यह कहना कि वे ज्ञेय, ध्येय या

उपास्य हैं सम्पूर्ण अर्थहीन है। शान्त, शिव, अद्वैत, तुरीय ब्रह्म ज्ञेय नहीं हैं; वे ज्ञानके विषय 'इदम्' हो ही नहीं सकते। परमब्रह्म 'अवाङ्मनसगोचर' हैं। वे अनिर्वाच्य, निर्विशेष, निराकार, उपाधिहीन, 'नेति-नेति'—निषेधवाक्यके द्वारा निर्देश्य हैं—सुतरां अविज्ञेय हैं। परंतु श्रुति यह भी कहती है कि 'अवाङ्मनसगोचर' होते हुए भी ब्रह्म विज्ञेय हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीसे कहते हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

अर्थात् 'अरी मैत्रेयि ! आत्मा दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन करने योग्य है। अरी मैत्रेयि ! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर अन्य सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है।' यह ऋषिवाक्य ब्रह्मके ज्ञानगम्य होनेका प्रमाण है; और श्रीकृष्णने भी सप्तम अध्यायके आरम्भमें कहा है कि इस ज्ञानसे सर्व विज्ञान लाभ होता है।

*ब्रह्मके अज्ञेय होनेका अर्थ यह है कि मनुष्यके वृत्तिज्ञानमें वे ज्ञेय नहीं हैं। योगसाधनद्वारा चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेपर जो प्रज्ञा-ज्योति प्रकाशित होती है, उसके द्वारा साधक ब्रह्मको आत्मस्वरूप, ज्ञातास्वरूप या द्रष्टास्वरूप जान सकता है—योगबलसे वृत्ति-ज्ञान-भूमि अतिक्रमपूर्वक ज्ञाता और ज्ञेय, अहम् और इदम्, आत्मा और परमात्मा, सुख-दुःखादि सब द्वैत बोधकी सीमा पार करनेपर, शुद्ध अध्यात्मविज्ञानसे निर्गुण, अद्वय ब्रह्मका स्वरूप ज्ञेय हो सकता है। नहीं तो, परब्रह्म, जो कि माण्डूक्योपनिषद्के एक मन्त्रमें अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् हैं। और गीताके अनुसार अव्यक्तके परे सनातन अव्यक्त हैं, मनुष्यके साधारण ज्ञानके अधिगम्य नहीं हैं। और न तो यह निर्गुण, निराकार, अद्वय ब्रह्म ध्येय ही हो सकते हैं। हमारे ध्यानमें या चिन्तामें वही वस्तु आ सकती है, जो कि हमारे चित्तको अपने आकारसे आकारित करे। इसलिये ध्येय वस्तुका नाम-रूप और कोई विशेष आकृति-सम्पन्न होना आवश्यक है। सामान्य, निर्विशेष वस्तुका हम ध्यान नहीं कर सकते हैं।

* देवेन्द्रविजय वसुकी गीतासे सारांश लिया गया है।

यद्यपि ब्रह्मके जाननेका कोई स्वरूप* लक्षण नहीं है, और न वे मनुष्यके ज्ञानमें ज्ञेय हैं, परंतु उनके जाननेके लिये जो तटस्थ लक्षण हैं, उनसे वे हमारे साधारण ज्ञानमें भी प्रतिभात होते हैं। निर्गुण, प्रपञ्चातीत, सर्वसम्बन्धरहित ब्रह्म अविज्ञेय हैं। परंतु प्रपञ्चसे सम्बन्ध-युक्त, जगत् और जीवके सम्बन्धसे, वे मनुष्य-ज्ञानके विषय हो सकते हैं। यह पहले लिखा गया है कि ब्रह्म इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयके कारण हैं और इस तटस्थ लक्षणसे वे ज्ञेय हैं। जो प्रकृतिके नियन्ता हैं, जगत्के पालक, पोषक, विधाता हैं, जिनका बल, वीर्य, विभूति विश्व-चराचरमें प्रकाशित है, वे ही ब्रह्म हैं और वे सगुण ब्रह्म हैं, जाननेयोग्य हैं और समग्ररूपसे ही जाने जा सकते हैं।

परंतु सगुण और निर्गुण ब्रह्म पृथक् नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि सगुण ब्रह्म—सर्वात्मा, सर्वसाक्षी, सर्वेश्वर एक हैं, और निष्कल, निरवद्य, निरञ्जन, निर्गुण ब्रह्म अन्य कोई हैं। एक अद्वितीय ब्रह्मके ये दो भाव हैं—एक व्यक्त है, दूसरा अव्यक्त। एक विज्ञ महानुभाव† लिखते हैं—ईश्वरका जो व्यक्त जड-जीवमय विश्वरूप है, जो उनका Immanent (सर्वानुस्यूत) भाव है, वह उनका अव्यक्त परम अनुत्तम Transcendent (सर्वातीत) भावके अंशरूपमें हम धारण कर सकते हैं। अव्यक्तभाव आधार है और व्यक्तभाव आधेय। अव्यक्तभाव व्यापक है और व्यक्तभाव व्याप्य। अव्यक्तभाव नित्य-कारण है और व्यक्तभाव उसका कार्य-रूप है, जो कि कारणमें निहित है। 'सत्कार्यवादी' श्रीशंकराचार्यने कहा है—

'कारणान्तर्भूता शक्तिः शक्तेरन्तर्भूतं कार्यम्।'

भगवान् परम शक्तिमान् होनेके निमित्त जगत्-कारण हैं, और इस पराशक्तिके हेतु यह कार्य या जगत्-रूपमें अभिव्यक्त हैं। सर्व-कारणरूपमें भगवान् अव्यक्त (Unmanifest) हैं, और सर्व-कार्यरूपमें वे व्यक्त (Manifest) हैं। भगवान्

* ब्रह्म 'चित्स्वरूप हैं, सत्यस्वरूप हैं, अनन्तस्वरूप हैं' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मका कोई विशेष ज्ञान नहीं होता। वही एक तत्त्व चित्, सत्य, ब्रह्म, ज्ञापक हैं; ये ब्रह्मके 'स्वरूप' लक्षण हैं। ब्रह्म भर्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृद् हैं—कहनेपर उनके विशेष-विशेष गुणोंके द्वारा उनके पृथक् भाव प्रकाशित किये गये हैं। ये उनके 'तटस्थ' लक्षण हैं।

† देवेन्द्र विजय बसु।

अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे कार्यरूपमें व्यक्त होते हुए भी कारणरूप परम अव्यक्तभावसे उनकी च्युति नहीं होती है। कार्यरूप उनका अंशमात्र है। अतएव भगवान्‌का अव्यक्त-भाव ही उनका परमभाव है—उनका स्वरूप है। और उनका व्यक्तभाव—यह जीव-जडमय जगत्-रूप, उसीके अन्तर्गत है।

अतएव ब्रह्ममें त्रिविध भावका संनिवेश देखा जा सकता है। एक—उनका समग्रभाव, जिससे निर्गुण-सगुणके अतीत होते हुए, न निर्गुणसे भिन्न हैं न सगुणसे; न वे मूर्त ब्रह्मसे भिन्न हैं न अमूर्तसे; अव्यक्तोऽपि चोत्तम सनातन अव्यक्तसे भिन्न नहीं हैं, व्यक्त भावापन्नसे भी नहीं; इसलिये यह भाव अविज्ञेय अचिन्त्यनीय है। दूसरा—शान्त, आत्म-स्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, निर्गुणभाव, जो अविज्ञेय होते हुए भी ज्ञेय हो सकता है; तीसरा—अव्यय, सर्वेश्वर, स्रष्टा, नियन्ता, सर्वानुस्यूत, सगुणभाव, जो कि ज्ञानगम्य है। यह सगुण और निर्गुणभाव उपर्युक्त अनिर्देश्यभावके अन्तर्गत हैं, जो कि परम तत्त्व है।

सगुण ब्रह्म-तत्त्व ज्ञेय होनेके निमित्त उस ज्ञानसे विश्व-कारण, विश्वरूप, परमेश्वर हमारे ध्येय और आराध्य भी हो सकते हैं। इस ध्येय, भजनीय ब्रह्मकी महिमाका अन्त नहीं है, गुणोंकी संख्या नहीं है। निर्गुण ब्रह्मकी एक ही उपाधि या विशेषण है, परंतु सगुण ब्रह्मकी विभूतियाँ महान् और अनन्त हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि सुनि मन भ्रम होइ॥

उनमें जो-जो प्रधान या परमभाव हैं, उन्हींके द्वारा हम ध्येय और ज्ञेय रूपोंकी उपलब्धि करते हैं।

श्रीगीताके सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायोंमें भगवान्‌की विभूतियाँ संक्षेपतः वर्णित हैं और दशममें उनका विस्तार है, तो भी उनका अन्त नहीं है। इसलिये अपनी विभूतियोंके वर्णन करनेके उपक्रममें श्रीकृष्ण कहते हैं—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥
(१०। १९)

हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियोंको तुमसे कहूँगा; क्योंकि उनके विस्तारका अन्त नहीं है।

एक तथ्य और भी प्रणिधान-योग्य है—इन अध्यायोंमें 'तत्' पद-वाच्य भगवान्‌के उपाधियुक्त और उपाधिरहित स्वरूपोंका भी प्रतिपादन है।

सप्तम अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्‌को समग्ररूपसे जाननेके लिये जैसे उनकी प्रकृतियोंसे परिचित होना आवश्यक है, कहा गया है, वैसे ही उस ज्ञानके लिये उनकी विभूतियाँ जानना भी आवश्यक है। भगवान्‌ने अपने सगुणभावकी विभूतियोंको इस अध्यायके चार श्लोकोंमें वर्णन किया है—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥
(७। ८-११)

अर्जुन! जलमें रस, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा, सब वेदोंमें ओंकार, आकाशमें शब्द और पुरुषमें पुरुषत्व मैं हूँ। पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सब प्राणियोंमें जीवनी-शक्ति और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ। अर्जुन! समस्त प्राणियोंका सनातन बीज तू मुझको जान। बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ। भरतश्रेष्ठ! बलवानोंका कामरागसे सर्वथा रहित बल और प्राणियोंमें धर्मसम्मत काम मैं हूँ।

अतः रस, तेज, शब्द, ज्योति, गन्ध इत्यादि रूपमें भगवान्‌का ध्यान किया जा सकता है, अर्थात् इन विभूतियोंके द्वारा सविशेष, सोपाधिक ब्रह्म ध्येय हो सकते हैं। ध्यान-परायण साधक इनकी सहायतासे भगवान्‌की एक आकृतिकी धारणा करते हैं, जैसे वे तेजःस्वरूप हैं, या ज्योतिःस्वरूप हैं इत्यादि। फिर उस रूपमें संयत-चित्तसे ध्यान लगाते हुए ध्येय ईश्वरकी प्राप्तिस्वरूप रसास्वादन करते हैं।

उक्त साधक उन भक्तों या उपासकोंमें हैं जिनकी अभिलाषा भगवत्प्राप्तिसे तृप्त हो जाती है। परंतु श्रीरामानुजजी कहते हैं कि अन्य उपासक ऐसे हैं जो कि महान् ऐश्वर्यके लिये भगवान्‌को भजते हैं; और कुछ ऐसे भी हैं जो कि प्रकृति-वियुक्तिसहित पुरुष-स्वरूपके दर्शनके लिये भगवदाराधन करते हैं। सप्तम अध्यायके अन्तके दो श्लोकोंमें उक्त

तीन प्रकारके भक्तोंके लिये जो ज्ञेय और ध्येय तत्त्व हैं, श्रीकृष्ण उनके विषयमें कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
(७। १९)

संसारसे विरक्त जो मनुष्य जरा-मरण प्रभृति नाना सांसारिक दुःखोंसे निवृत्ति प्राप्त करनेके निमित्त मेरी शरणमें आकर ज्ञान-लाभके लिये प्रयत्न करते हैं, वे उस वेदान्त-प्रसिद्ध परम ब्रह्मको जानते हैं; सम्पूर्ण अध्यात्म—प्रत्यगात्मा विषय-वस्तु—को जानते हैं, जिसके द्वारा वह प्राप्य है; और उसके लिये साधनभूत सरहस्य समस्त कर्मको जानते हैं। इस पर्यायके साधक सर्वज्ञान लाभ करते हैं। श्रीकृष्णने इस अध्यायके उपक्रममें कहा था—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

जिसके जाननेसे अन्य ज्ञातव्य विषय जगत्में शेष नहीं रहता है—यह एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान बतानेकी प्रतिज्ञाका यहाँ इस श्लोकमें उपसंहार किया गया है। श्रीरामानुजके मतानुसार इस स्थानपर ज्ञेय ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार अन्तिम श्लोकमें ध्येय ब्रह्मका स्वरूप निरूपण किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥
(७। ३०)

—पूर्वश्लोकमें वर्णित भक्तोंके अतिरिक्त और जो भक्त हैं वे मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ भावके सहित चिन्तन करते हैं; वे युक्त-चेता पुरुष मुझमें आसक्त होनेके कारण मरण-समयपर भी मुझे ही स्मरण करते हैं।

भगवान् क्षर-पुरुष-भावसे अधिभूत, दिव्य-पुरुष-भावसे अधिदैव और देहान्तर्गत यज्ञके नियामक-भावसे अधियज्ञ हैं। ये भाव ध्येय भाव हैं। ऐश्वर्याभिलाषी भक्त नित्यप्रति इनका ध्यान करता है और मरणकालमें भी उसकी चित्तवृत्ति ईश्वराकार होनेके कारण भगवान्की शरणमें उसका प्राणोत्क्रमण होता है।

इसी विषयका नवम अध्यायमें भी श्रीकृष्णने विस्तार किया है। सप्तम अध्यायमें उन्होंने कहा है—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' और नवममें—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं……।' दोनों अध्यायोंमें भगवान् एक-से ही शब्दोंका व्यवहार करते हैं। यह इङ्गित करनेके लिये कि दोनोंकी विषय-वस्तुमें सादृश्यता है। निम्नाङ्कित तुलनात्मक चित्रसे यह बात स्पष्ट है—

सप्तम		नवम	
श्लोक-संख्या	पद या भाव	पद या भाव	श्लोक-संख्या
२	{ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं‥ यज्ज्ञात्वा……	इदं तु ते गुह्यतमं ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा }	१
६	परा और अपरा प्रकृति भूतयोनि	चराचर प्रकृतिकी रचना	१०
,,	अहं‥'जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा	प्रभवः प्रलयः स्थानं	१८
८–१२	विभूतियाँ (सर्वानुस्यूत रूप)	विभूतियाँ (सर्वात्मा-स्वरूप)	१६-१९
१०	बीजं मां सर्वभूतानाम्	बीजमव्ययम्	१८
१२	न त्वहं तेषु	न चाहं तेष्ववस्थितः	४
१६	{ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन	महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं‥ भजन्त्यनन्यमनसो }	१३
२०	प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः	येऽप्यन्यदेवता यजन्ते	२३
२३	मद्भक्ता यान्ति मामपि	यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्	२५
२४	{ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं‥'मामबुद्धयः परं भावमजानन्तो	अवजानन्ति मां मूढाः परं भावमजानन्तो मम . }	११
२९	जरामरणमोक्षाय	अनित्यमसुखं लोकमिमं	३३

भगवान्को असंशय समग्रभावसे जाननेका जो ज्ञान है उसको 'गुह्यतम' ज्ञान कहा है। श्रीधर स्वामी लिखते हैं— गुह्यं धर्मज्ञानं ततो देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं ततोऽपि परमात्मज्ञानमतिरहस्यत्वाद्गुह्यतमम्—अर्थात् धर्मका ज्ञान गुह्य है, देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान गुह्यतर है और परमात्माका ज्ञान अतिशय रहस्यमय होनेके कारण गुह्यतम है।

भगवान् श्रीकृष्णने इस अध्यायमें अपना ज्ञेय स्वरूप परमभाव जाननेका जो दिव्य ज्ञान है उसका वर्णन किया

है। यह अध्याय भक्ति-योग-षट्कके अन्तर्गत होते हुए भी ज्ञानप्रधान है, जिसमें भक्ति ज्ञानका लक्षण है—दिखाया गया है। और ज्ञानपरायण पुरुषके लिये ब्रह्म किस ज्ञानके अधिगम्य है, यह बताया गया है। अतः इस प्रसङ्गको आरम्भ करते हुए भगवान् चतुर्थ और पञ्चम श्लोकोंमें परम तत्त्वके उस ज्ञेय स्वरूपका वर्णन करते हैं जो कि 'गुह्यतम' ज्ञानमें प्रकाशित होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

श्रीमधुसूदन इन श्लोकोंकी जो विस्तारित व्याख्या करते हैं उसका सारांश यहाँ दिया जाता है—यह भूत, भौतिकदृश्यसमुदाय मेरे सद्रूप और स्फुरणरूपसे व्याप्त है; मैं ही इसका सर्वस्व हूँ—इसमें ओतप्रोतभावसे विद्यमान हूँ; मुझे छोड़कर इसकी स्वतन्त्र सत्ता और प्रकाश नहीं है। मेरी अव्यक्त मूर्तिके द्वारा जो कि मन सब इन्द्रियोंके परे है, यह समग्र चराचर परिव्याप्त है, मेरी इस दृश्यमान मूर्तिसे नहीं। इसी कारण मेरी ही सत्तासे और मेरे ही प्रकाशसे जो सब पदार्थ 'सत्' के सदृश भासते हैं, वे 'मत्स्थ' हैं; स्थावर-जङ्गम सब भूतवर्ग इस भावसे 'मत्स्थ' हैं अर्थात् मुझमें अधिष्ठित हैं। किंतु परमार्थतः उन सब भूतवर्गोंमें मैं अवस्थित नहीं हूँ।

जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य जलके कम्पनसे कम्पित होते हुए भी आकाशस्थित सूर्य कम्पित नहीं होता है; उसी प्रकार मुझपर समस्त जगत् कल्पित होते हुए भी वे परमार्थतः मुझमें नहीं हैं। हे अर्जुन! तू साधारण मनुष्यकी प्राकृत बुद्धि त्यागकर मेरा ऐश्वर्य-योग अर्थात् अघटनघटन-चातुर्यको देख, मुझको मायावी जान। न मैं आधेय हूँ, न मैं आधार हूँ, तथापि मैं समस्त भूतवर्गमें हूँ और समस्त भूतवर्ग मुझमें हैं, यह मेरी महती माया है। उपादानकारण होनेके हेतु, समस्त भूतवर्गका जो भरण-पोषण करता है वह 'भूतभृत्' है और कर्तारूपसे जो समस्त भूतोंका उत्पादन करता है वह 'भूतभावन' है; इस प्रकारसे मेरा आत्मा अर्थात् मैं भूतभृत् और भूतभावन हूँ। मेरा आत्मा अर्थात् परमार्थ-स्वरूप सच्चिदानन्दघन मैं इस प्रकार जगत्का निमित्तोपादान होता हुआ भी परमार्थतः भूतोंसे सम्बन्ध-युक्त नहीं हूँ; क्योंकि मैं असङ्ग अद्वितीय स्वरूप हूँ।

इस व्याख्याका निष्कर्ष यह हुआ कि परमात्मा एक ही आधारमें विश्वकारण, विश्वरूप, सर्वभूतमहेश्वर हैं और साथ ही विश्वातीत, अव्यक्त, असङ्ग परम-तत्त्व भी हैं। इस दृष्टिकोणसे ईश्वर ज्ञेय हैं, ध्येय नहीं हैं। परंतु त्रयोदश श्लोकमें कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

अर्थात्, हे पार्थ! दैवी-प्रकृतिसम्पन्न महात्मा अनन्य-चित्तसे मुझको भूतोंका आदि कारण और अविनाशी जानकर सगुणब्रह्मरूपमें मेरी उपासना करते हैं।

स्तुत्यके समक्ष

(रचयिता—श्रीमुरलीमनोहर सिंह)

आज तुम्हारी श्याम कान्तिमें मैं उर द्युतिमय कर लूँ।
जगतीका तम हर लूँ॥

झंकृत हो मृदु-मृदु नूपुर स्वर,
मोद-विकल मधु-लीन चराचर।
सखे! तुम्हारी विभु-छायामें छवि-उन्मत्त विचर लूँ।
जगतीका तम हर लूँ॥

रोम-रोम खिल उठे प्रणत मन,
द्रवित हृदयसे भरे विलोचन।
प्राणोंमें उत्फुल्ल सरस ध्वनि मैं वंशीकी भर लूँ।
जगतीका तम हर लूँ॥

पी प्रतिपल निरुपम छबि पावन;
अधर-हास खल भ्रू-सम्मोहन;
श्याम सलोने! देख तुम्हें मैं इस जगके ऊपर लूँ।
जगतीका तम हर लूँ॥

जब अपवित्र विचार घेरते हैं !

(काम, कारण और निवारण)

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[गताङ्क पृष्ठ ८३९ से आगे]

राही कहीं है, राह कहीं, राहबर कहीं,
ऐसे भी कामयाब हुआ है सफ़र कहीं !

अपवित्र विचार क्यों आते हैं, कहाँसे आते हैं, कब आते हैं ! उनका उद्गम कहाँ है !

इस किलेपर हमला करनेके लिये इन सब बातोंकी जानकारी जरूरी है ।

× × ×

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि अपवित्र विचारोंसे घिर जाना एक बात है और अपने-आपको उनसे घेर लेना सर्वथा दूसरी बात ।

प्रायः होता यह है कि हम स्वयं अपनेको अपवित्र विचारोंसे घेरे रखते हैं । मकड़ीकी तरह हम खुद अपने चारों ओर यह जाला तानते हैं और उसमें फँस जानेपर रोते हैं कि हाय ! हम कहाँ फँस गये !

यों, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि न चाहते हुए भी अपवित्र विचार हमें घेर लेते हैं—

'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥'

यह ठीक है कि एक स्थिति दूसरीसे कुछ अच्छी है, विकार स्वतः आकर घेर लें, उसकी अपेक्षा जान-बूझकर विकारग्रस्त होना बहुत बुरा है, परंतु चाहे खरबूजा छुरीपर गिरे, चाहे छुरी खरबूजेपर,—खरबूजेका हलाल होता ही है ! प्राणायाम चाहे सीधा हो चाहे द्राविड़, फल दोनोंका एक ही होता है ।

× × ×

जैसे भी हो, हमें अपवित्र विचारोंसे मुक्त होना ही है ।

× × ×

अपवित्र विचार दो तरफसे आते हैं—भीतरसे और बाहरसे ।

हृदय जबतक मलिन है, उसमें विषय-भोगकी लालसा छिपी बैठी है, गंदी वासनाएँ भरी पड़ी हैं, विषयोंका रस बना हुआ है—तबतक अपवित्र विचारोंका आना स्वाभाविक है । हृदय शुद्ध हो जाय, उसकी वासनाएँ निर्मूल हो जायँ, उसकी गंदगी जाती रहे, विषयोंका रस नष्ट हो जाय, फिर अपवित्र विचार आ ही नहीं सकते ।

× × ×

बाहरसे आनेवाले अपवित्र विचार संसर्ग-दोषसे आते हैं ।

हम जो देखते हैं, जो पढ़ते हैं, जो सूँघते हैं, जो चखते हैं, जो छूते हैं, जिस वातावरणमें रहते हैं—वह यदि विकारोत्तेजक होता है तो अपवित्र विचार आये बिना नहीं रहते ।

विषयोंके पिछले संस्कार, उनकी स्मृतियाँ भी अपवित्र विचारोंको जन्म देती रहती हैं ।

हमारा वातावरण पवित्र हो, हम पवित्र प्राणी-पदार्थोंके सम्पर्कमें आयें, हम पवित्र विषयोंको ही ग्रहण करें, पवित्र वस्तुएँ ही देखें, चक्खें, सूँघें, छुएँ और पवित्र बातें ही सुनें तो अपवित्र विचारोंकी कन्नी अपने-आप ही कट जाय ।

× × ×

अपवित्र विचारोंसे मुक्त होनेके लिये हमें पहले बाहरी मोर्चा फतेह करना पड़ेगा, फिर भीतरी ।

पहले अपनेको अपवित्र संसर्गसे दूर रखना होगा, फिर हृदयके भीतर भरे पुराने कूड़े-कचरेको धो बहाना होगा ।

बाहरसे हमने अपनेको शुद्ध कर लिया, पर भीतर-ही-भीतर हम यदि भोगोंमें रस लेते रहे तो कभी भी, किसी भी क्षण हम गिर सकेंगे । तब तो हमपर शेखकी वही उक्ति फलेगी—

बाकी है दिलमें शेखके, हसरत गुनाहकी,
काला करेगा मुँह भी, जो दाढ़ी सियाह की ।

× × ×

प्रायः यही होता है कि हम स्वयं ही अपनेको अपवित्र विचारोंसे घेर लेते हैं । हम खुद अपवित्र वातावरणमें जा बैठते हैं और अपवित्र चर्चामें रस लेने लगते हैं । हम ऐसे प्राणी-पदार्थोंके सम्पर्कमें चले जाते हैं जो मलिन वासनाओंको जाग्रत् करते हैं ।

और तब पतनकी ओर जाना क्या कठिन है ?

कहा ही है—

काजरकी कोठरीमें कैसोहू सयानो जाय
एक लीक काजरकी लागिहै पै लागिहै ॥

× × ×

विचारोंके घोड़े इतनी तेजीसे दौड़ते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है । कभी-कभी इनका पीछा करता हूँ तो सन्न रह जाना पड़ता है मुझे । पलभरमें सारी दुनियाका चक्कर मार आते हैं ।

अभी पटनामें हैं, पलक मारते कलकत्तामें । जो स्थान कभी देखे भी नहीं, वहाँ भी जाते देर नहीं लगती ।

और समयका पैमाना तो इनके लिये कुछ है ही नहीं । हृदयमें न जाने कितनी स्मृतियाँ, कितने संस्कार दबे पड़े हैं ! कौन विचार स्मृतियोंकी किस लड़ीको खींच लायेगा, नहीं कहा जा सकता ।

× × ×

कोई भी अपवित्र कार्य पहले अपवित्र विचारके रूपमें ही जन्म लेता है, फिर बढ़ते-बढ़ते मानवको पतनके गड्ढेमें ढकेल देता है ।

स्वामी शिवानन्द सरस्वतीने ठीक ही लिखा है—

"Evil thinking is the beginning and starting point of adultery."

'अपवित्र विचारोंसे ही व्यभिचारका आरम्भ होता है ।'

× × ×

इसीकी पेशबन्दीके लिये ईसाने कहा है—

'Ye have heard that it was said by them of old time. Thou shalt not commit adultery. But I say unto you, that whosoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultery with her already in heart.

'And if thy right eye offend thee, pluck it out, and cast it from thee; for it is profitable for thee that one of thy members should perish, and not that thy whole body should be cast into hell.

'And, if thy right hand offend thee, cut it off, and cast it from thee: for it is profitable for thee that one of thy members should perish, and not that thy whole body should be cast into hell.'

—St. Mathew. 5. 28-30.

'बुजुर्गोंने कहा है कि तुम व्यभिचार मत करो, पर मैं कहता हूँ कि यदि कोई पुरुष किसी स्त्रीके प्रति कुदृष्टि डालता है तो हृदयमें उसने उसके साथ व्यभिचार कर लिया ।

और यदि तेरी दाहिनी आँख शरारत करती है, उसे निकाल डाल, दाहिना हाथ बदमाशी करे तो उसे काटकर फेंक दे, क्योंकि सारा शरीर नरककी यन्त्रणा भोगे, उससे तो अच्छा यही है कि शरीरका एकाध अङ्ग ही उसका दण्ड भोगे ।'

× × ×

और ऐसा किया है लोगोंने ।

कहते हैं कि राजस्थानकी एक राजपूत कुमारीने अपने उस हाथको काटकर फेंक दिया था जिसे उसके बहनोईने विकारग्रस्त होकर छू लिया था ।

× × ×

तपस्वी जुन्नूनके बारेमें कहा जाता है कि एक दिन वे घूमते-घामते एक पहाड़पर जा पहुँचे ।

वहाँ उन्होंने देखा कि एक झोपड़ी है जिसके दरवाजेमें एक आदमी बैठा हुआ है ।

उस आदमीका एक पैर भीतर था और दूसरा बाहर कटा पड़ा था, जिसमें लाखों चींटियाँ चिपटी हुई थीं ।

जुन्नूनकी जिज्ञासा बढ़ी ।

उसे प्रणाम कर उन्होंने पूछा—'भैया ! यह क्या बात है ?'

वह बोला—भैया ! अभी एक दिनकी बात है । मैं यहीं बैठा था कि सामनेसे एक युवती निकली, जिसे देखकर मेरा चित्त चञ्चल हो उठा । उसे और अच्छी तरह देखनेके लिये मैं उठ पड़ा और जैसे ही मैंने अपना एक पैर

कुटियाके बाहर निकाला कि मुझे यह आकाशवाणी सुन पड़ी—

अरे साधु, तूने सारी शर्म धोकर पी ली है ! तीस सालसे तू यहाँ साधना कर रहा है । लोग तुझे 'भक्त' कह-कर पुकारते हैं । फिर भी तू आज शैतानके चक्करमें फँसने जा रहा है ।

यह सुनते ही मेरा शरीर काँप उठा । सचमुच मैं महान् अनर्थ करने जा रहा था । मैंने तुरत उस पैरको काटकर बाहर फेंक दिया जो विकारग्रस्त होकर कुटियासे बाहर निकला था ।

× × ×

बिल्वमंगलने आँखोंके द्वारा विकार आनेसे आँखें ही फोड़ डाली थीं ।

× × ×

है हममें-आपमें ऐसा साहस ?

परंतु, संतोंकी कसौटी यही है ।

तुकाराम कहते हैं—

पापाची वासना नको दावूं डोळां
त्याहुनी अंधळा बराच मी ।
निंदेचे श्रवण नको माझे कानीं
बधिर करोनि ठेवीं देवा ॥
अपवित्र वाणी नको माझ्या मुखा
त्याजहुनि मूका बराच मी ।
नको मज कधी पर स्त्रीसंगति
जनांतूनि माती उठतां भली ॥

पापदृष्टिसे किसीको देखूँ, उससे मेरा अंधा हो जाना भला !

कानोंसे किसीकी निन्दा सुनूँ, उससे मेरा बहरा हो जाना भला !

मेरे मुखसे अपवित्र वाणी निकले, उससे मेरा गूँगा हो जाना भला !

विकारग्रस्त होऊँ, उससे अच्छा है पृथ्वीसे मेरे शरीरका ही उठ जाना !

× × ×

स्वामी रामतीर्थने लिखा है*—

रामका मन एक बार बिगड़ गया । लाहौरमें अपने कोठेपर चढ़ा था । वहाँसे उसने किसी स्त्रीको नग्न देखा जिससे उसका मन बिगड़ा । मगर मनकी इस अवस्थाको देखकर वह तत्काल छाती कूटने और रोने लगा और उस दिनसे इस बातका पक्का इरादा कर लिया कि 'या तो हम मरेंगे या मनको मारेंगे ।'

और हठी राम मनको मारकर ही माने !

× × ×

सारी शैतानी तो मनकी है । मनके माध्यमसे शैतान बहकाता है—इसे देख, इसे ले, इसे सूँघ, इसे सुन, इसे छू !

इन्द्रियोंने जहाँ मनकी बात सुनी, उसके बहकावेपर ध्यान दिया कि पतनका दरवाजा खुला !

जरा चूके कि गये !

× × ×

सारे अनर्थोंकी शुरुआत किसी-न-किसी अपवित्र विचारसे होती है ।

विषयोंका ध्यान किया नहीं, उनपर सोचना शुरू किया नहीं कि आनन-फानन इन्द्रियाँ बहकना शुरू कर देती हैं, और वे बहकी नहीं कि गिरते क्या देर लगती है !

हृदयमें जहाँ अपवित्र विचार पनपा कि पतनका मार्ग प्रशस्त हुआ ।

इसीलिये जरूरत है कि शुरूमें ही अपवित्र विचारकी जड़ काट दी जाय । पलभरका भी विलम्ब लगाये बिना उसे बेरहमीसे काटकर फेंक दिया जाय ।

जरा-सी गफलत की कि शैतानने अपना जाल फैलाया । देखते-देखते वह इतना मजबूत हो जाता है कि बादमें उसे उखाड़ फेंकना बहुत कठिन हो जाता है । 'उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ना' तो शैतानके लिये आम बात है ।

× × ×

यह सोचना ही गलत है कि उँह, इतनी मामूली बातसे क्या हो जायगा । किसीको जरा देख लेनेसे, किसीकी जरा-सी खुशबू ले लेनेसे, कुछ चीज खा लेनेसे, किसीको जरा-सा छू लेनेसे क्या बिगड़ता है ?

जी नहीं, ऐसा नहीं है ।

बकरी पाती खाति है, ताहि सतावै काम ।
नितप्रति हलुआ निगलते, तिनकी जानै राम ॥

* फैजाबादका वार्तालाप १२ । ९ । १९०५

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शकी तो बात ही क्या, सिर्फ चिन्तनसे लुटिया डूब जा सकती है।

कबीरने गलत थोड़े ही लिखा है—

जहाँ जलायी सुंदरी, तहँ जिन जाहु कबीर।
उड़ि भभूत अंगन लगे, सूना करे सरीर॥

× × ×

'जब जलायी गयी स्त्रीकी राखकी यह दशा है, तब रसपूर्वक स्त्री-संसर्गमें रहनेवाले मनकी क्या दशा होगी ? परस्त्रीके साथ कभी एकान्तमें न रहो। प्रयोजनके बिना उससे व्यर्थ बातें न करो, परस्त्रीकी ओर देखनेमात्रसे विकार उत्पन्न होता है, बात करनेसे बढ़ता है, स्पर्श करनेसे पूर्णताको पहुँचता है।······'तुम परस्त्रीके साथ गाते हो, नाचते हो, कूदते हो, एकान्तमें बातें करते हो, सोते-बैठते हो—अरे मूर्ख ! यह तुम्हारे विनाशका मार्ग है। तुम समझते हो कि इससे तुम्हारा क्या होता है ? अरे मूर्ख ! तुम्हारी अपेक्षा अनेक गुने अधिक शक्तिशाली मायाके मोहसे मार्गभ्रष्ट होकर धूलमें मिल गये। फिर तुम्हारी क्या गिनती ? मायिक पदार्थोंमें एक विशेषता यह है कि जैसे ही प्रेमसे तुमने उनकी ओर देखा या सुना कि फँसे और फँसनेपर धीरे-धीरे ऐसे गहरे गढ़ेमें गिरोगे कि जहाँसे निकलना बहुत ही कठिन होगा।'*

ठीक ही कहा गया है—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

आग और घीका सम्पर्क कब भभक उठेगा, कोई नहीं कह सकता। ऐसे मौकोंपर कोई यदि बचता है तो भगवान्की कृपासे। अन्यथा, दुर्बल मानवमें ऐसी शक्ति कहाँ ?

× × ×

महात्मा गांधीने लिखा है कि 'रामनामने ही मेरी रक्षा की, नहीं तो, दो-तीन बहिनोंको मैं बहिन कहने लायक नहीं रह जाता !'

हिंदू आदर्शोंके अनुसार संतुलित जीवन

(लेखक—श्रीगुलाबरायजी एम्० ए०)

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

मानव-जीवनके प्रवाहको नियन्त्रित करनेके लिये सत्सङ्ग आदि अनेकों साधन हैं, किंतु उनमें दो प्रमुख हैं—धर्म और साहित्य। सत्सङ्गकी बड़ी महिमा गायी गयी है।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

किंतु सत्सङ्ग बिना राम-कृपाके नहीं मिलता है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

इसलिये साधारण मानवको धर्म-ग्रन्थों और साहित्यपर ही निर्भर रहना पड़ता है। धर्म और साहित्य एक दूसरेके सहायक और पूरक रहते हैं। धर्मसे साहित्यको प्रेरणा मिलती है और साहित्यसे धर्मकी व्याख्या होती है। धर्मग्रन्थोंका उपदेश कुछ ऊँचे धरातलसे होता है। उसमें ईश्वरीय आज्ञाकी भावना रहती है। वह उपदेश प्रभुसम्मत होता है किंतु साहित्यका उपदेश 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' स्त्रीका-सा कोमल, मधुर और स्नेहपूर्ण होता है। कविवर बिहारीलाल यदि मिर्जा राजा जयशाहको रनवाससे बाहर न आनेके लिये डाँटते-फटकारते, उनको शास्त्रका उपदेश देकर उनसे कहते कि तुम नरकमें पड़ोगे तो शायद दरबारसे निकाल बाहर किये जाते, कदाचित् जहर भी दे दिया जाता; किंतु उन्होंने अपना काम एक दोहेसे बना लिया—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

धर्म और साहित्य दोनों ही समाजको संगठित रखनेमें सहायक होते हैं। धर्म भी 'धृ' धातुसे बना है जो धारण करनेके अर्थमें आता है। साहित्यमें भी हितकी प्रधानता है और हितका अर्थ है 'जो बनाता है।' इसलिये हमारे यहाँ धर्म और साहित्यमें विशेष अन्तर भी नहीं रह जाता है। रामायण हमारे लिये पूजाकी पुस्तक होनेके साथ-साथ हमारे साहित्यकी

* श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास 'सत्सङ्गमाला'।

उज्ज्वलतम अनुपम विभूति भी है। धर्म और साहित्य दोनोंकी ही सार्थकता मानव-जीवनके सुधार और नियन्त्रणमें है। गोस्वामी तुलसीदासजीने राम-भक्तिका नीतिसमन्वित रूप ही स्वीकार किया है।

प्रीति रामसों, नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते, इहै भगति की रीति॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

साहित्यके महाकाव्योंमें खलोंकी निन्दा और सज्जनोंके गुण-कीर्तनका विधान है।

'क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।'

महाकाव्यमें, जिसको अंग्रेजीमें Epic कहते हैं, जातीय सद्गुणोंका वर्णन रहता है।

'सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।'

—(भामह काव्यालङ्कार १। १९) महाकाव्य सर्गोंमें बँधा हुआ होता है और उसमें बड़ोंकी बड़ी-बड़ी बातें रहती हैं। इसलिये हमको अपने जीवनकी दिशा-निर्देशके लिये धर्म और महाकाव्योंकी शरण लेनी पड़ती है।

हमारे यहाँ श्रुति अर्थात् वेदका सबसे अधिक मान है, वही धर्मका मूल स्रोत माना गया है। वेदमें उपनिषद् भी शामिल हैं। वेदोंके अनुकूल संतुलित जीवनका लक्ष्य है—सबके साथ सम भाव, अद्वेष और सबके साथ प्रेम-भाव।

स हृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

अर्थात् हे मनुष्यो! मैं परमेश्वर तुम्हारे लिये हृदय और मनकी समानता और इनसे उत्पन्न होनेवाली पारस्परिक द्वेषहीनताकी अवस्थाकी व्यवस्था करता हूँ। अर्थात् मैं चाहता हूँ कि तुम एक दूसरेसे मिलकर रहो और एक दूसरेको प्रेम करो, ठीक उसी तरह जिस तरह एक गाय नवजात बछड़ेको करती है। तुलसीदासकृत रामचरितमानसके रामराज्यमें सामाजिक साम्य (Social Harmony) की प्रशंसा की गयी है—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

इस वैदिक आदर्शकी प्राप्तिके लिये सबको त्यागके साथ भोग करनेकी आज्ञा दी गयी है। मानव-इच्छाओं और अभिलाषाओंकी सीमा नहीं—हम चाहे बूढ़े हो जायँ किंतु तृष्णा नहीं जीर्ण होती 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।' वह नया-नया रूप धारण करके हमारे सामने आती है; किंतु संसार इतना सम्पन्न नहीं है कि सबकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकें। इसीलिये जीवनमें त्याग और संतुलनकी आवश्यकता बतलायी गयी है। हम इसलिये त्याग करें कि दूसरे कुछ हाथ-पैर फैलाकर रह सकें। इसीलिये ईशावास्योपनिषद्में यह उपदेश दिया गया है—

ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् संसारमें जो कुछ है वह ईश्वरसे व्याप्त है। अभिप्राय यह कि वह सब ईश्वरका है और ईश्वरमय है। इसलिये त्यागके साथ भोग करना चाहिये। दूसरोंके लिये उनका भाग छोड़ देना चाहिये। अपने लिये आवश्यकतासे अधिक न लेना चाहिये। दूसरेके धनपर लोभकी दृष्टि लगाना ठीक नहीं है।

संतुलित जीवनमें त्याग और भोगका ऐसा संतुलन है। संक्षेपमें, हमको चाहिये कि हम किसी दूसरेके धनकी इच्छा न करें, अपने उचित भागसे अधिक न लें। यह तो हुआ समाजमें व्यक्ति-व्यक्तिका संतुलन। व्यक्तिके भीतर भी अनेकों बातोंका संतुलन वाञ्छनीय है। सबसे बड़ा संतुलन है धर्म, अर्थ और काम। जीवनमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं। उनमेंसे मोक्षका सम्बन्ध मरणोत्तर जीवनसे है। धर्म, अर्थ और कामका इस जीवनसे सम्बन्ध है। इनमें भी धर्मका सम्बन्ध दोनों लोकोंसे है। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीद्वारा चित्रकूटमें आये हुए भरतजीको तीनोंको उचित महत्त्व देनेका आदेश दिया गया है।

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे॥

(वाल्मीकीय रामायण अयोध्या० १०० । ६२-६३)

अर्थात् शायद अर्थसे धर्ममें अथवा धर्मसे अर्थमें और दोनोंमें प्रीति और कामसे तो बाधा नहीं पड़ती? हे विजेताओंमें श्रेष्ठ और कालके जाननेवाले! तुम तीनोंके काल विभाजन कर तीनोंका समान भावसे सेवन तो करते हो? कामका अनुशीलन बुरा नहीं माना गया है। भरत मुनिने कहा है—

कि जो पवित्र है दर्शनीय, वह शृङ्गारद्वारा ही अनुमित किया जाता है।

'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ। रघुवंशी राजा लोग त्यागके लिये धन इकट्ठा करते थे, गर्व करनेके लिये नहीं; सत्यकी रक्षा और पालनके लिये वे थोड़ा बोलते थे, न कि दूसरेके तिरस्कार या अज्ञानके कारण; वे विजय लाभ करते थे, यश-प्राप्तिके लिये, न कि दूसरोंका राज्य हड़पनेके लिये; और वे गृहस्थ धर्ममें प्रवेश करते थे संतानोत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋण चुकानेके लिये, न कि कामोपभोगके लिये।

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
(रघुवंश १। ७)

उसी कुलके महाराज दिलीपके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे समाजकी स्थिति और रक्षाके लिये अपराधियोंको दण्ड देते थे और संतानके लिये ही उन्होंने विवाह किया था। इस प्रकार उस बुद्धिमान् राजाके लिये अर्थ और काम भी धर्मके अङ्ग बन गये थे।

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥
(रघुवंश १। २५)

सद्गुणोंके साथ मनुष्यमें दुर्गुण भी लगे रहते हैं। महाराज दिलीप अपने सद्गुणोंको तदनुरूप दुर्गुणोंके अभावसे संतुलित करते थे। उनमें ज्ञान था किंतु वे उसकी डींग नहीं मारते थे। उनमें शक्ति थी, किंतु वह दूसरोंको सतानेके लिये नहीं, वरं क्षमा और रक्षाके लिये थी। वे दान करते थे, किंतु आत्मप्रशंसासे दूर थे। इस प्रकार उनमें विपरीत गुण सहोदरकी भाँति रहते थे।

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥
(रघुवंश १। २२)

जीवनको संतुलित बनानेके अर्थ ही हमारे यहाँके लोगोंने अपने जीवनको चार भागोंमें बाँट रक्खा था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। रघुवंशियोंके लिये कहा गया है कि वे बचपनमें विद्याभ्यास करते थे, जवानीमें विषय-विलासमें पड़ते थे और वृद्धावस्थामें मुनियोंकी वृत्तिका अनुसरण करते थे और अन्तमें योगद्वारा (रागद्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
(रघुवंश १। ८)

चाणक्यनीतिमें भी कहा है कि जिसने जीवनके पहले भागमें विद्या नहीं अर्जित की, द्वितीयमें धन नहीं कमाया और तीसरेमें पुण्य नहीं लाभ किया, वह चौथेमें क्या करेगा।

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

हमारे देशमें और प्रायः सभी देशोंमें जिस संतुलनपर बहुत बल दिया है, वह है मन-वाणी और कर्मके सामञ्जस्यपर। दुरात्मा लोगोंके मनमें कुछ, वाणीमें कुछ और कर्म वाणीसे बिल्कुल भिन्न होता है; किंतु सज्जनोंमें इसका उलटा होता है। उनके मन, वाणी और कर्म एक-से होते हैं।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥
(चाणक्यनीति)

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो भगवान्‌की कृपाकी कसौटी ही यही मानी है कि उनकी वाणीके अनुकूल कर्म हों।

तुम अपनायो हौं तबै हौं परिजानि हौं
गढ़ि गुढ़ि छोलि-छालि कुंदकी-सी भाईं बातैं
जैसी मुख कहौं तैसी जियँ जब आनिहौं॥
(कवितावली उत्तरकाण्ड ६३)

मनुष्यके जीवनको संतुलित बनाने और उसको भारतीय आदर्शोंके अनुकूल ढालनेमें श्रीमद्भगवद्गीताने सबसे अधिक उपकार किया है। उसने सबसे बड़ा संतुलन तो कर्म-अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्तिका किया है। निष्काम कर्मका उपदेश देकर प्रवृत्तिको निवृत्तिमय बना दिया। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' उसका ज्ञान कर्मको गति और भक्तिको रति प्रदान करता है। और ज्ञान भी कर्म और भक्तिसे ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगीको अतिवादों (Extreme) से बचनेका उपदेश दिया है। न उसको अधिक खाना चाहिये और न उसको अधिक सोना चाहिये और न इतना संन्यास करना चाहिये कि वह बहुत ही थोड़ा खाये और सोये। जो संतुलित आहार और विहार करता है और जीवनमें संतुलित बुद्धिसे काम

लेता है तथा स्वप्न और जागरणमें संयम रखता है, वह दुःखको नहीं प्राप्त होता।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६। १६-१७)

इसी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस भोजनोंका विवरण दिया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें सभी प्रकारके मानसिक संतुलनका उपदेश दिया गया है। स्थित-प्रज्ञके लक्षण हमको इसी मानसिक संतुलनका उपदेश देते हैं। यथा—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२। ५६-५७)

जिसका मन दुःखके समय दुखी नहीं होता, सुखके समय सुख भोगना नहीं चाहता, जो राग, भय और क्रोध-से रहित है, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहलाता है। जो किसी चीजसे प्रेम नहीं करता, अच्छी चीजको पाकर खुश नहीं होता और बुरी चीजको पाकर दुखी नहीं होता, उसकी बुद्धि निश्चल है।

इन्हीं आदर्शोंको लेकर गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिकामें संतस्वभावका वर्णन किया है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपातें संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥

सर्वस्व-दान

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'सम्राट् संघके शरणापन्न हैं।' स्थाण्वीश्वर (कन्नौज) की वार्षिक श्रमण-परिषद्की आज अन्तिम उपस्थिति है। सम्राट् हर्षवर्द्धनको प्रयागके महाकुम्भमें जानेकी शीघ्रता है। सेवक वहाँ पहुँच चुके हैं पर्याप्त पूर्व ही। सम्राट् संक्रान्तिका त्रिवेणी-स्नान करेंगे ही; किंतु कुम्भ एवं अर्धकुम्भीके समय होनेवाली प्रयागकी मोक्ष-सभा—एक बौद्ध सम्राट् ब्राह्मण-धर्मको इतना सम्मान दे, प्रयागमें ब्राह्मणोंको प्रति छठे वर्ष सर्वस्व-दान करे, यह बौद्धसंघके अनेक तरुण भिक्षुओंको रुचिकर नहीं लगता। संघमें दीक्षित नवतरुणोंका नवीन उत्साह इसे एक प्रकारका अनर्थ ही मानता है। आज श्रमण-परिषद्में एक तरुण भिक्षु उठकर खड़ा हो गया है। वह अकेला बोल रहा है, किंतु सभी—स्वयं सम्राट् भी जानते हैं कि वह अकेला नहीं है। वह भिक्षुओंके एक बड़े समूहके मतका प्रतिनिधित्व करता बोल रहा है—'एक बौद्ध सम्राट्की शक्ति तथागतके संघके अभिवर्द्धनमें ही व्यय होनी चाहिये।'

'संघ तथागतके उपदेशके प्रसारका साधनमात्र है भद्र।' सम्राट्को बोलना नहीं पड़ा। राजगुरु एवं श्रमण-परिषद्के अध्यक्ष भिक्षुश्रेष्ठ ह्वेनसांगने तरुण भिक्षुको रोक दिया आगे बोलनेसे। 'भगवान् तथागतका उपदेश समूहों, जातियोंका बँटवारा करके प्रतिस्पर्धा बढ़ाने, द्वेष एवं संघर्षको पोषण देनेके लिये नहीं है। मानवमात्र—प्राणीमात्रके लिये प्रेम एवं समताका संदेश है उसमें। बौद्धधर्मकी ही यह महानता है कि यह विजातीय विदेशी चीन देशवासी आज भारतके ज्ञानका प्रसाद पाकर आपके द्वारा सम्मानित हुआ है।'

'लेकिन जो धर्म—जो समाज सदासे संघकी प्रगतिका अवरोधक रहा है।' तरुण भिक्षुको संतोष नहीं हुआ था।

'उसे और अधिक स्नेह—और अधिक अपनत्व मिलना चाहिये।' भिक्षुश्रेष्ठने उसी गम्भीरतासे उत्तर दिया। 'तथागतने प्रतिस्पर्धाकी शिक्षा तो कहीं नहीं दी है।'

'मैं नालन्दाके सम्मान्य स्नातक एवं शिक्षक तथा आचार्य शीलभद्रके आदरणीय सहाध्यायीसे तर्क कर सकूँगा

ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है।' भिक्षुने लगभग अपनी बात समाप्त कर दी—'लेकिन मैं केवल अपना मत नहीं व्यक्त कर रहा हूँ; संघके भिक्षुसमूहमें एक बड़ा समुदाय मेरे साथ है।'

'मैं संघको मस्तक झुकाता हूँ।' सम्राट् हर्षका घन गम्भीर स्वर गूँजा। उस सुगठित गौरवर्ण शरीरसे आभूषण न होनेपर भी जो एक तेज प्रकट हो रहा था, उस संयम, सात्त्विकताकी मूर्तिमें जो एक अद्भुत गौरव था, उसने सबको स्तब्ध—शान्त कर दिया। 'मैं निजीरूपसे संघके शरणापन्न हूँ और संघ आदेश दे तो यहींसे भिक्षु होकर उसकी सेवामें लग जानेको प्रस्तुत हूँ।'

दो क्षण सम्राट् रुके। किसीको इस उत्तरकी आशा नहीं थी। 'दक्षिणापथके शासक महाराज पुलकेशी बौद्ध नहीं हैं। हर्षका अनुगमन करनेवाले इक्कीस नरेश एवं शतशः मण्डलीश्वर भूपति बौद्ध नहीं हैं और वे हर्षको भयसे सम्राट् मानते हैं, भयसे हर्षका अनुगमन करते हैं—यह मान ले इतना हर्ष मूर्ख नहीं है। सम्राट् तो दूर—हर्ष तो नरेश भी नहीं है। वह तो साम्राज्ञी राज्यश्रीका प्रतिनिधिमात्र है।'

भिक्षुओंने एक दूसरेकी ओर देखा। सबके हृदय धक्-धक् करने लगे। सबके मुखोंपर चिन्ताके लक्षण व्यक्त हुए—'तरुण भिक्षुने अनवसर चर्चा की। पता नहीं सम्राट् क्या करने जा रहे हैं।' केवल भिक्षुश्रेष्ठ आचार्य ह्वेनसांग स्थिर बैठे थे। उनकी प्रसादभरी दृष्टि बड़े गौरवसे अपने योग्य शिष्यको कृपाका दिव्य वरदान प्रदान कर रही थी।

'शासक किसी धर्मका प्रतिनिधि नहीं होता। वह प्रजाका सेवक है, धर्म उसका व्यक्तिगत है। शासकके नाते प्रजाकी सेवा करनी है उसे।' सम्राट्ने आगे बात और स्पष्ट की—'स्वयं तथागतने कहीं ब्राह्मण-धर्मको तिरस्करणीय माना हो, यह मुझे स्मरण नहीं। प्रत्येक धर्ममें तो अज्ञान तथा अनपेक्षित आचार भ्रम, प्रमाद एवं व्यक्तियोंके स्वार्थ-वश आ जाते हैं, उनका समय-समयपर सत्पुरुषोंद्वारा परिष्कार होता रहा है। संघके नियमोंमें स्वयं तथागतको ये परिष्कार करने पड़े हैं।'

'प्रयागकी मोक्ष-परिषद् ब्राह्मण एवं भिक्षु दोनोंके लिये उन्मुक्त है।' भिक्षुश्रेष्ठने विस्तारको रोक दिया, जिसमें कटुता एवं विवाद न उत्पन्न हो। कुम्भ केवल एक समूहका पर्व नहीं है। वह तो राष्ट्रका सांस्कृतिक पर्व है और देशके शासकोंको श्रद्धासमवेत उस महासमुदायकी सेवा करके पवित्र होना ही चाहिये जो देशके कोने-कोनेसे इस पुण्य अवसरपर तीर्थभूमिमें पहुँचता है।'

× × ×

[२]

'भाई! कल तुम मेरे यहाँ वस्त्र लेने आओगे?' देवी राज्यश्रीने अपने गौरवमय छोटे भाईको बड़े स्नेहसे देखा। कितना महान् है उनका यह अनुज। स्थाण्वीश्वरका गौरव, भारतका सम्राट् और इतना स्नेहमय कि चाहे सारा भारत हर्षको सम्राट् कहे—हर्ष अपनेको बहिन राज्यश्रीका प्रतिनिधिमात्र मानते हैं।

'भाई जब कंगाल हो जाय तो बहिनको छोड़कर किसके द्वारपर भिक्षुक बने।' हर्षके मुखपर मन्द हास्य आया।

'लेकिन इस बार तुम यह पुराना उत्तरीय ले लेना।' राज्यश्रीने एक कौशेय उत्तरीय हाथमें उठाया। उत्तरीय जीर्ण हो चुका है; किंतु अब भी यत्र-तत्र ही फटा है। सम्राट् सर्वथा चिथड़े लपेटे यह क्या शोभा देता है?'

'यह तो मेरा हो चुका और कल नाविक इसे पाकर प्रसन्न हो जायगा। बहिनका उपहार ही तो भाईका सर्वस्व है। अन्यथा हर्षके सर्वस्वदानमें धरा क्या है।' हर्षवर्धनने वह जीर्ण उत्तरीय बहिनके हाथसे लेकर कंधोंपर डाल लिया।

'बहिनके पास ही क्या धरा है! शत्रुने उसे तो अरण्यवासिनी बना दिया था। बलशाली भाईकी शौर्यमयी भुजाएँ चितारोहणके लिये प्रस्तुत बहिनको साम्राज्ञी बना दें, यह बात दूसरी है; किंतु बहिन तो वही है न।' राज्यश्रीके नेत्र टपटप टपकने लगे। ये स्थाण्वीश्वरकी अधिदेवी—हर्ष किसी काममें ननुनच तक नहीं करते इनकी सम्मतिके बिना। राज्य-नियमोंमें राज्यश्री साम्राज्ञी हैं। और वे साम्राज्ञी हैं, यह कोई अस्वीकार कर नहीं सकता; किंतु ये पतिहीना तपस्विनी—भूमिशयन, साधारण वस्त्र, नित्य एकाहार व्रत—साम्राज्यका करना क्या है इन्हें। वह तो छोटे भाईका स्नेह है, अनुरोध है जो यह वनदेवताकी साक्षात् तपोमूर्ति राजसदनको, राजसभाको पवित्र करती है।

'बहिन!' हर्षका कण्ठ भर आया। बहिनके नेत्रोंमें अश्रु उनसे कभी नहीं देखे जाते।

'तुमने अभी गङ्गाजल भी नहीं लिया भाई !' राज्यश्रीने झटपट नेत्र पोंछ लिये और प्रसंग बदल दिया। आजकल केवल तीसरे प्रहरके प्रारम्भमें सम्राट् थोड़ा-सा फलाहार ग्रहण करते हैं। रात्रिमें दूध लेनेके बदले वे केवल गङ्गाजल लेते हैं। भीड़भाड़, स्वागत-सत्कार, दान-पुण्य और समस्त दौड़धूप—कार्यव्यस्तताके पश्चात् लगभग मध्यरात्रिको थके-माँदे जब वे विश्रामके लिये शिविरमें पहुँचे हैं—इस समय कोई ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिये, जिससे उनका भावमय हृदय क्षुब्ध हो।

'तुममें केवल स्नेह-ही-स्नेह है बहिन !' हर्षने भरे दृगोंसे राज्यश्रीकी ओर देखा। माता जैसे निरन्तर पुत्रका ध्यान रखती है—हर्षकी क्षण-क्षणकी चिन्ता यह उनकी तपस्विनी बहिन ही तो करती है।

'तुम मेरे स्नेहको मानो तब तो।' राज्यश्रीने तनिक स्नेहकी फटकार दी—'एक पुराना उत्तरीय भी तुम्हें स्वीकार नहीं। चिथड़ा लोगे—ऐसा चिथड़ा जिसे कोई राहका भिखारी भी लपेटना न स्वीकार करे और उसी फटे चिथड़ेको लपेटे कुम्भके इस अपार समुदायके मध्यसे भारतका सम्राट् प्रयाण करेगा।'

'आचार्य कहते हैं कि जीव संसारमें राग और द्वेष इन दो बन्धनोंसे ही बँधता है। हर्षने तथागतकी शरण लेकर द्वेषको तो निर्मूल कर दिया है। प्रयागमें प्रत्येक कुम्भ या अर्धकुम्भीपर यह जो मोक्ष-सभा होती है, वह दूसरोंके लिये मोक्षदायिनी हो या न हो, हर्षके लिये भी मोक्षदायिनी न हो तो उसका आयोजन दम्भ ही तो होगा।' सम्राट्—पर नहीं, त्यागी भाईने तपस्विनी बहिनको समझाना चाहा।

'मैं तुम्हारी मोक्ष-सभाका विरोध कहाँ करती हूँ।'

'तुम अपने ही आयोजनका विरोध कर भी कैसे सकती हो।' हर्षका स्वर भावगम्भीर बना रहा—'यह तो मैंने तुमसे ही सीखा है कि संसारके पदार्थोंका जितना त्याग किया जाय, उनसे राग जितना-जितना दूर हो, मोक्ष उतना-उतना पास आता है; उतना-उतना ही बन्धनमुक्त होता है जीव। हर्षके पास एक भी पदार्थ—एक भी वस्त्र-खण्ड ऐसा रह जाय जो दूसरे किसीके काममें भी आ सकता हो तो सर्वस्वदानकी घोषणा मिथ्या नहीं होगी ?'

'अच्छा अब गङ्गाजल पी लो और सो जाओ ! प्रहरी मध्यरात्रिका शंखनाद कर रहे हैं और तीसरे प्रहरके अन्तमें तुम्हें उठ जाना है।' राज्यश्रीने जलपात्र उठाया—'मैंने इस बार इतना फटा चिथड़ा तुम्हारे लिये सुरक्षित रक्खा है कि तुम उसे बहुत दिन स्मरण रखोगे।'

'मैं चाहे भूल भी जाऊँ, तुम्हें अवश्य स्मरण रहेगा वह।' परंतु हर्षको और बोलने देनेका अर्थ था उनके विश्रामके एक प्रहरसे भी कम समयको और कम करना। राज्यश्रीने उनके हाथमें जलपात्र दे दिया और वे शयन-कक्षसे सेविकाओंके साथ अपने कक्षमें चली गयीं।

× × ×

[३]

प्रयागका महाकुम्भ—यह पर्व बारह वर्षपर आता है और जबसे स्थाण्वीश्वरकी सीमाएँ हर्षके पराक्रमसे विस्तृत हुईं, कुम्भके स्नानकी महिमाको सम्राट्की मोक्षसभाके आयोजनने द्विगुणित कर दिया। गङ्गा-यमुनाके अन्तरालकी पावन भूमिमें, महर्षि भरद्वाजके आश्रमके पुनीत पदप्रान्तसे अक्षयवट-की मङ्गल छायातक शतशः महापुरुषोंके आश्रम सदा बस जाते हैं। अवधूत तपस्वियोंके आसन इस शीत ऋतुमें भी हिमशीतल बालुकापर केवल धूनीके सहारे स्थिर रहते हैं—स्थिर रहते हैं वे तपःकाय अनावरण, दिग्वसन नग्न आकाश-के नीचे तब भी जब आकाश उपलवृष्टि करता है या वर्षाकी धार उनकी आधारभूता धूनीकी अग्नि शीतल कर जाती है। विभूतिभूषित उनके पवित्र देह—तपमें यदि प्रदर्शन एवं कामना न हो, वह भुवनको पवित्र करता है।

शतशः शिविर हैं संतों, महापुरुषों, विद्वानों एवं सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्योंकी परम्परामें प्रतिष्ठित लोकपूज्य आचार्यचरणवृन्दके। श्रुति-पुराणोंकी कथा, धर्मका प्रवचन, भगवन्नामका पवित्र कीर्तन—गङ्गा-यमुना-सरस्वतीकी पावन त्रिवेणीके समान यह आध्यात्मिक वाग्देवताकी मङ्गल-आराधना समस्त वातावरणको पुनीत करती है।

मुण्डित मस्तक श्रद्धावनत यात्रियोंके यूथ-यूथ त्रिवेणीका स्नान करते हैं। कालिन्दीकी नीलिमा जहाँ भागीरथीकी शुभ्रताको अङ्कमाल देती है—कुम्भके पुनीत पर्वपर मानव वहाँ निमज्जन करके अपनेको कृतार्थ करने ही तो यात्राका अपार कष्ट सहकर आता है। महीनोंकी यात्रा, वन-वन भटकना, जहाँ-तहाँ पड़े रहना, नंगे पैर, आधे पेट खाकर, छाले पड़े, बिवाई भरे थके-माँदे सहस्र-सहस्र यात्री आते हैं—देशके कोने-कोनेके तीर्थयात्री—पर्वस्थान तो मार्गकी

वापियाँ, कूप, सरोवर बन जाते हैं, प्रयागकी अपार भीड़का कहना क्या। लेकिन त्रिवेणीकी पुनीत धार—जैसे सम्पूर्ण श्रमदर्शन करते ही सार्थक हो जाता है।

'गङ्गा माताकी जय!' और इसके साथ प्रायः 'सम्राट् हर्षवर्धनकी जय!' यह ध्वनि भी गूँजती है। भारत सदासे कृतज्ञ-हृदय देश है और यहाँका मानव सदा त्याग, तप एवं धार्मिकताका समाराधक रहा है। सम्राट्की सेवा यात्रीको बहुत पहले मार्गमें ही कृतज्ञ बना लेती है। स्थान-स्थानपर सुदूर प्रान्तोंतकमें प्रयागके मार्गमें यात्रियोंके लिये आवास बने हैं, अन्नसत्र हैं और जल एवं चिकित्साकी व्यापक व्यवस्था है। 'सम्राट् हर्षवर्धनकी जय!' यह सम्राट्के ऐश्वर्य, पौरुष एवं आतङ्ककी जय नहीं है। यह है सम्राट्के त्याग, सुप्रबन्ध एवं सेवाकी जय!

जब यात्री प्रयाग पहुँचता है—वह चकित रह जाता है। इतना सुविस्तृत क्षेत्र, इतना अपार जनसमुदाय और इतनी सुव्यवस्था! समस्त क्षेत्र जैसे समतल, सुसज्जित नगर-भूमि बना दी गयी है और यह ऐसा नगर जहाँ प्रत्येक यात्री अनुभव करता है कि वह निर्भय है, निश्चिन्त है और उसके लिये आवश्यक समस्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। मार्गोंका प्रबन्ध, प्रहरियोंकी जागरूकता, चिकित्सकोंकी तत्परता और ये राजसेवक सर्वज्ञ तो नहीं हैं? कोई यात्री कुछ चाहता है, यह कैसे जान लेते हैं ये? यात्री कुछ चाहता है और कोई-न-कोई, राजसेवक दो क्षणमें उसके सामने होता है सेवा और नम्रताकी मूर्ति बना—'आप कहीं ठहरना चाहेंगे? किसी परिचिततक पहुँचना है आपको? राजनौकासे स्नान करनेकी कृपा करेंगे आप?'

यात्री—तीर्थयात्री प्रयाग आकर दूसरेसे सेवा लें, यह सदा ही संकोचकी बात है सबके लिये। परंतु ये विनम्र राजसेवक—इन्हें तो जैसे यही शिक्षा मिली है कि प्रत्येक यात्रीकी कुछ-न-कुछ सेवा करनी ही है। आवास, स्नानका प्रबन्ध, भोजन, चिकित्सा और आवश्यक हो तो उपयुक्त वस्त्रादि भी।

स्वच्छता, मार्गोंकी व्यवस्था, आवासोंकी पंक्तियाँ और गङ्गा-यमुनापर बने तरणि-सेतु। इतनेपर भी शतशः राज-नौकाएँ यहाँ-वहाँ घूमती रहती हैं। कोई स्नानार्थी स्नान करना चाहे—उसे विलम्ब न हो। कोई वृद्ध, शिशु, अपंग असहाय होनेका अनुभव न करे। दुर्घटना—दुर्घटना होती है वहाँ, जहाँ प्रमाद होता है, अधर्म होता है, अधिकारियोंमें आलस्य एवं उन्माद होता है। सम्राट् हर्षकी उपस्थितिमें दुर्घटना हो—दुर्घटनाके अधिनायक क्रूर पिशाचोंके पैर भी काँपेंगे यहाँ। सम्राट्के सेवकोंके नेत्र यहाँ जैसे एक-एक कणको क्षण-क्षण देखते रहते हैं।

इस सब अद्भुत आयोजन—सुप्रबन्धके मध्य सम्राट्की मोक्षसभा—वह तो मोक्षसभा ही है। भारतके गण्य-मान्य विद्वान् भी सुदीर्घ यात्रा करके आये हैं उस सभाका केवल दर्शन करने। आग्रह—अनुरोध एवं श्रद्धाने जैसे सम्पूर्ण देशकी तपस्या, त्याग एवं ज्ञानकी विभूतियोंको एकत्र कर दिया है।

ब्राह्मण और बौद्ध—लेकिन ज्ञान या तप न ब्राह्मण होता न बौद्ध। यह भेद तो जन-सामान्यके मनका मोह है। मोक्ष-सभामें जो ज्ञानकी साकार प्रतिमाएँ—जो लोक-पूजित महापुरुष एकत्र हुए हैं, उनका वेश भले उन्हें ब्राह्मण या बौद्ध कहे, उनका ज्ञान सार्वभौम है। उनकी कृपा निर्बाध है। मोक्ष-सभा तो मानवमात्रके लिये मोक्षसभा है।

जनलोकमें ऋषियोंका नित्य सत्सङ्ग होता है—यह सुनी-सुनायी बात है; किंतु सम्राट्की मोक्ष-सभा—प्रयागकी पावन भूमिमें कुम्भके पवित्र अवसरपर जैसे पृथ्वीपर जनलोक स्वयं अवतरित हो जाता है। पर उस मोक्षसभामें सम्राट् हर्ष—हर्ष वहाँ सम्राट् कहाँ हैं? संयम, सादगी और सेवाकी वह विनम्र मूर्ति—त्रेताका कोई सम्राट् अपनी यज्ञभूमिमें ऐणेयाजिन उत्तरीय उतारकर धर देनेपर कदाचित् इसी प्रकार दिखायी पड़ता होगा।

'सम्राट् हर्षवर्धनकी जय!' मोक्षसभाका दर्शन करके निकलनेपर यह जयनाद प्रत्येक कण्ठसे गूँज उठता है। सम्राट्की सेवा और विनय—यह नम्रता ही सदा विजयिनी है और जय तो सदा उसीकी होती है।

अमावास्याका महास्नान—और अब वसंतपञ्चमीतक सम्राट् दान करेंगे। क्या दान करेंगे, यह पूछनेकी बात नहीं है। उन महाप्राणको तो सर्वस्वदान करना है। अन्न, वस्त्र, आभूषण, रत्न, स्वर्ण, गज, रथ, अश्व, गायें—जो कुछ सम्राट्के पास अपना है वह सब कुछ। किसे दान करेंगे? यह प्रश्न भी कोई मूर्ख ही करेगा। ब्राह्मण-भिक्षु, सेवक-शूद्र, भूखा-भिक्षुक—जो लेना चाहे, सबके लिये मोक्षसभाका द्वार उन्मुक्त है। सम्राट्को तो चिन्ता यह है कि लेनेवाले नहीं हैं। प्रयागकी इस पावन भूमिमें यात्री यथाशक्य दान करने आते हैं। 'कौन क्या स्वीकार करनेकी कृपा करेगा?'

राजसेवक संक्रान्तिसे ही यह पता लगानेमें व्यस्त हैं।

× × ×

[४]

'सम्राट् हर्षवर्द्धनकी जय !' राजसेवकोंके लिये यात्रियों-का नियन्त्रण इतना कठिन अमावास्याके स्नानपर्वपर भी नहीं था। सहस्र-सहस्र यात्री एक ही राजपथके दोनों ओर एकत्र हो गये हैं। अपार जनसमूह एकत्र होता जा रहा है। पुष्पोंकी वर्षाने मार्गको आच्छादित कर दिया है। जनता अपने सम्राट्के दर्शन करना चाहती है।

सम्राट्—स्थाण्वीश्वरका अधिदेवता—विश्वने किसी सम्राट्-का यह अद्भुत वेश नहीं देखा होगा। सम्राट्के पास अपना रथतक नहीं है। अपनी बहिन राज्यश्रीके रथपर खुले केश, वस्त्राभूषणहीन, कटिमें फटा चिथड़ा लपेटे दोनों हाथ जोड़े जो तेजोमय गौरवर्ण सुपुष्टकाय भव्यमूर्ति अपने दीर्घदृगोंमें जल भरे विनम्र खड़ी है—प्रान्त-देशमें धनुष और त्रोण पड़े न भी हों तो भी वह सम्राट् है, यह भ्रम भला किसे हो सकता है। इतना उदार, इतना महान् सम्राट्—उसकी कटिका चिथड़ा त्रिभुवनकी विभूति उस चिथड़ेको देखकर लज्जासे मुख छिपा लेगी। यह सम्राट्—जन-जनके हृदयका यह अधिदेवता—यह धनुष और त्रोण रक्खे या न रक्खे, त्रिभुवनकी विजय-श्री तो स्वतः इसके चरणोंमें प्रणत होकर कृतार्थ होगी।

'सम्राट् हर्षवर्धनकी जय !' राजरथ प्रयागकी पुण्यतीर्थ-भूमिकी सीमासे पार हुआ और सम्मुख आती रथोंकी पंक्तिमेंसे एक रथ आगे बढ़ आया।

'मेरे मान्य बन्धु !' दक्षिणापथके प्रख्यात पराक्रमी शासक पुलकेशीने रथसे कूदकर प्रणिपात करना चाहा; किंतु हर्षकी स्फूर्तिको दूसरा कोई कहाँ पा सकता है, सम्राट्ने अपनी भुजाओंमें भर लिया उन्हें।

'यह भारतके सम्राट्का रथ है।' पुलकेशीका रथ सारथिने संकेत पाते ही आगे बढ़ा दिया। 'सम्राट्ने मुझे छोटे भाईका गौरव दिया है और अब छोटे भाईको उसका स्वत्व देनेकी बारी है। सर्वस्वदान पूरा हो जाना चाहिये।' हँसते हुए पुलकेशीने दोनों हाथ फैला दिये वह चिथड़ा लेने-के लिये, जिसे हर्षने अपनी कटिमें लपेट रक्खा था।

'आप जो उपहार चाहें, वह पहलेसे आपके हैं।' सम्राट्ने बड़ी उदारतासे कहा। 'हर्षके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं जो दक्षिणापथके शासकको न दिया जा सके।'

'परंतु दक्षिणापथके शासक अपने सम्राट्को इस वेशमें और दो क्षण नहीं देख सकेगा। उसके उपहार स्वीकृत न हों ऐसा कोई अपराध उसने नहीं किया है।' पुलकेशीके सारथिने रत्नजटित वस्त्र सम्राट्के चरणोंमें रख दिये—'बड़े भाईके अधिकार छोटे भाईके अपने ही हैं। इस समय तो पुलकेशीको बड़े भाईका यह प्रसाद चाहिये जो उसके कुलमें सुरक्षित रहे और यह बतावे कि हर्षने अपने छोटे भाईको इस गौरवके योग्य समझा।'

सेवकोंने वस्त्रोंका आवरण किया, पुलकेशीने अपने हाथों सम्राट्को सजाया और जब सम्राट् रथपर बैठ गये उनकी कटिसे छूटा चिथड़ा उठाकर उस दक्षिणापथके शासकने अपने कंधेपर डाल लिया।

'यह आप क्या कर रहे हैं ?' बड़े संकोचसे हर्षने रोकना चाहा।

'सम्राट्का सर्वस्वदान सम्पूर्ण हो गया और उसका सबसे मूल्यवान् भाग पुलकेशीने प्राप्त किया।' दक्षिणापथके शासकने प्रसन्नतासे दाहिना हाथ उठाकर जयनाद किया—'सम्राट् हर्षवर्द्धनकी जय !'

परे

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि')

वह मन-वाणीसे परे है।
जाने हुओंका ऐसा निश्चय है।
पर फिर भी मन उसके सम्बन्धमें सोचता है।
वाणी उसके सम्बन्धमें तुतलाती है।
कैसे निर्लज्ज !—कितने धृष्ट हैं ये !!
पर इस निर्लज्जतामें कितना रस है !
इस धृष्टतामें कैसा सौन्दर्य है !
मानो नन्हा शिशु जगमग-जगमग कुलबुल कर
रहा हो।
हाँ ! वह मन-वाणीसे परे है।
पर फिर भी मन उसके सम्बन्धमें सोचता है।
वाणी उसके सम्बन्धमें तुतलाती है।

मनको बाँधनेमें आत्मकल्याण है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

मन ही मनका बोधक होता है, मन ही मनका साधक होता है, मन ही मनका उत्प्रेरक और रक्षक होता है। हमारे मनमें अद्भुत उत्पादक शक्तियाँ भरी हुई हैं, जिनके द्वारा प्रतिपल हमारा अस्थि-चर्ममय शरीर संचालित हुआ करता है। मन जैसा जिधर जिस प्रकारका आदेश देता है, अनुचरकी भाँति हमारा शरीर वही करता है। संचालन एवं नियन्त्रणका समग्र कार्य हमारे मनमें ही चलता रहता है।

शरीरमें मन केन्द्रिय-विभाग है, जिसमें सैकड़ों उप-विभाग कार्य करते हैं। किसी विभागमें निरीक्षण होता है, तो किसीमें दर्शन, मनन, चिन्तन, सम्बोधन इत्यादि। कहीं कल्पना अपना रुपहला स्वरूप चित्रित करती है, तो विवेक सर्वत्र अपना नियन्त्रण करता है। कहीं वासनाओंका विभाग है, जो नाना प्रकारके प्रलोभन-आकर्षणका केन्द्र बनकर हमारे असंतोष और अन्तर्ज्वालाका कारण बनता है।

मन बोधक है। अर्थात् इसीके विवेकद्वारा हमें आत्म-बोध होता है। हम धन-जन-तन आदिकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरताका ज्ञान प्राप्त करते हैं और सबसे बड़े शक्ति-केन्द्र परमात्मामें आकर केन्द्रित हो जाते हैं। हम परमात्माके ही सनातन अंश हैं। जो हममें है वही परमात्मामें है, जो परमात्मामें है वही हममें व्याप्त है—इस तत्त्वका बोध कराने और जीवनके लक्ष्यके प्रति उन्मुख करनेवाला हमारा मन ही है। उच्चतम विवेक, सर्वोच्च ज्ञानका भण्डार, शक्ति और सामर्थ्यका मूलकेन्द्र मनमें है। इससे हम वह प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं जिससे हमें आनेवाली परिस्थितियोंसे युद्ध करनेकी प्रेरणा मिलती है। हम आत्मनिर्भरता और निर्भीकता प्राप्त करते हैं।

मन हमारे पथको साधता अर्थात् उचित दिशामें रखता है, भटकने, पथ-भ्रष्ट होने नहीं देता। जीवन तो एक यात्रा है। हम साधनाद्वारा, कर्मद्वारा निरन्तर अपनी-अपनी यात्राएँ करते चलते हैं। जिसको जहाँ जाना है, जो कार्य करनेका निर्देश है, वह शक्तिके अनुसार करता चलता है। उद्देश्यपर आरूढ़ रहनेका अभ्यास मनकी एकाग्रताद्वारा ही सम्पन्न होता है। मनकी दृढ़तासे आप जो चाहें, जैसे चाहें कर सकते हैं। शरीरको एक स्थानपर अचल, अटल खड़ा करके कार्य ले सकते हैं। हम पुस्तकोंमें पुराने ऋषि-मुनियोंका वृत्तान्त पढ़ते हैं जो इतनी कड़ी साधना करते थे कि शरीरपर मिट्टी जम जाती थी और दीमक या पक्षी उसमें अपने घर-घोंसले बना लेते थे। मन फिर भी पूरी गति और शक्तिसे कार्य करता चलता था। हमारी साधनाओंमें सम्पूर्ण दृढ़ता हमारे मनकी है।

मनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, हम नाना मधुर वस्तुओंकी ओर आकृष्ट होकर मोहरज्जुमें आबद्ध हो जाते हैं, पर यह मन ही उचित दशामें आकर हमें मोह, वासना, आलस्य, तामस सुख, प्रमाद आदिसे मुक्त करता है। वैराग्य-जैसे दिव्यभावकी उत्पत्ति करता है।

मन चञ्चल है। विक्षिप्त बंदरकी भाँति एक डालसे दूसरी, फिर तीसरी, चौथीपर कूदता-फाँदता फिरता है। यह कभी एक वस्तुसे तृप्त नहीं होता, एक बार विषय या वस्तुसे क्षणिक तृप्ति पाकर नयी वस्तु, नयी स्थितिकी कामना करता है। यह फूल-फूलपर विचरनेवाली तितलीकी भाँति सक्रिय है।

मन ही उत्प्रेरक है। नयी उमंग, नयी प्रेरणा, नयी स्फूर्ति हमें बाहरसे नहीं, अंदरसे ही प्राप्त होती है। नये उत्साहवर्द्धक सपनोंका निर्माता हमारा मन ही है।

ये मनकी एक स्थितिके भाव हैं। दूसरी ओर यही मन राग-द्वेष, निन्दा-स्तुति, लोभ-मोह, काम-क्रोध, विषाद-चिन्ता, भय-बाधाकी भ्रमात्मक कल्पनाओंमें डालकर अनेक कुटिल द्वन्द्वोंमें आबद्ध करता है और हमारा पतन कर देता है। कुटिल बनकर हमें अनेक विपदाओंमें, मानसिक दुश्चिन्ताओंमें डाल देता है और अनेक छोटे-बड़े पापकर्मोंमें प्रवृत्त कराता है। हमारे अहंभावको उभार देता है। हम भ्रममें पड़कर स्वार्थ-मय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। मन ही विकारोंको उत्पन्न कर जीवनको कलुषित बनाता है।

मनुष्यके जीवनका कोई भाग मनके नाना उत्पातोंसे मुक्त नहीं है। बाल्यावस्थामें बिना विचारे ये मूर्खतापूर्ण कार्य, गलतियाँ उसे घेरे रहते हैं, यौवनमें काम-वासनाओंकी व्याधि, इन्द्रियलोलुपता, मदान्धता, मत्सर उसे अशान्त बनाये रहते हैं। बुढ़ापेमें इन्द्रियशैथिल्य और शारीरिक-मानसिक बीमारियाँ उसे दुखी रखती हैं। ये सब मनके विकार हैं।

मन ही मनका बाधक होता है। मन पथभ्रष्ट हो माया और तृष्णामें बहकता है। एक तृष्णाके पश्चात् दूसरीको जन्म देता है। तृष्णामें लगे रहना एक ऐसी भूलभुलैयामें भटकते रहना है, जिसमेंसे जीवन-पर्यन्त निकलना कठिन ही नहीं, असम्भव-प्राय है। मन ही भयके नाना रूप, प्रतिरूप उत्पन्न कर हमारे असंख्य बन्धनोंका कारण बनता है।

हमारी अतृप्ति मनकी ही एक संकटपूर्ण, अस्वस्थ और अनिष्ट वृत्ति है जिसमें मनुष्य हर क्षण नयी-नयी आवश्यकताएँ अनुभव करता और उनमें शान्ति प्राप्त करनेका विफल प्रयत्न करता है। मनको इधर-उधर दौड़ानेसे अन्तस्तलमें वासनाका वेग, लालसाएँ, कामनाएँ, आशाएँ और तृष्णाएँ भयंकर विप्लव उत्पन्न कर देती हैं। हमारा आन्तरिक जीवन एक समरस्थली-सदृश अशान्त, अस्थिर हो जाता है।

मन ही मनका घातक होता है। यदि उचित निरीक्षण न किया जाय तो मन पापका आगार, कुत्सित कल्पनाओंका भण्डार और असंयमका आलय बन सकता है। कलुषताके प्रश्रयसे यह हमारा शत्रु बन जाता है। हमसे ऐसे अनेक दुष्कर्म करवा डालता है कि बादमें पश्चात्तापकी अग्निमें जलना पड़ता है। अतः प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिकी मूल समस्या मनोनिग्रहकी समस्या है। उसीको वशमें करना चाहिये।

मनको नियन्त्रित करनेकी महत्ता देखिये—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामिनि पातिनो।
चितस्य दम यो साधु चित्तं दन्तं सुखावह ॥

(अर्थात् जो कठिनाईसे निग्रहयोग्य, शीघ्रगामी जहाँ चाहे जानेवाला हमारा यह चञ्चल मन है, उसका दमन करना ही उत्तम है। दमन किया हुआ चित्त ही सुखप्रद होता है।)

स्वयं मन ही आत्म-निरीक्षण करता अर्थात् मनकी सृष्टिके भद्र-अभद्र, उचित-अनुचित, सार-निस्सार कार्योंकी देख-रेख रखता है। आत्मनिरीक्षणसे मनुष्य मनकी क्रियाओंपर अनुशासन करना और उसे ठीक मार्गपर आरूढ़ करना सीखता है।

मनको स्थिर करनेके लिये नित्य स्थायी और शाश्वत ब्रह्म आत्मा तथा अपने इष्टदेवके गुणोंपर उसे केन्द्रित रखनेका अभ्यास कीजिये। अभ्यास करते-करते मन एकाग्र होने लगेगा। इस एकाग्रतासे ही अन्त-र्द्वन्द्वोंसे मुक्ति हो सकती है। चेतन तत्त्वके सान्निध्यसे ही मुक्ति है।

आपका मन जब धन, यौवन, परिवारमें मदमस्त होकर नृत्य कर उठे तो उसे रोकिये। उसे यह समझाइये कि ये सब सांसारिक वस्तुएँ अनित्य और क्षणभङ्गुर हैं। पलक मारते ही क्षणभरमें विनष्ट हो जाती हैं। संसारके मिथ्या आकर्षण, मोह-मायाका परित्याग कर

ब्रह्मपद, अध्यात्म-चिन्तन और समाजसेवामें अपना जीवन व्यतीत कीजिये ।

व्यर्थ ही दूसरोंपर संदेह करना, संशयमें रहना छोड़ दीजिये । गीता कहती है, "संशयात्मा विनश्यति" सदा संशय करनेवाला, दूसरोंको संदेह दृष्टिसे निरखनेवाला अविश्वासी, अनियन्त्रित व्यक्ति क्षयको प्राप्त होता है । न दूसरोंके विषयमें क्षुद्रता तथा दुर्भावनाएँ लाइये, न स्वयं अपने विषयमें हीनत्वकी भावनाएँ उत्पन्न कीजिये । ये दोनों ही आपके मनकी विकारमय स्थितियाँ हैं ।

दुःख क्या है ? चिन्ता किस महाराक्षसीकी संतान है ? काम-क्रोध, अभिमान-अहंकार, गर्व-मद, भेद-घृणा, वैर-विरोध, अश्रद्धा-अविश्वास, दुराचार-अनाचार आदि अनर्थ कहाँ उत्पन्न होते हैं ? वास्तवमें संसारमें इन विकारोंके आधार हमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें मिल जाते हैं । हमारा मन ही उन छोटे-बड़े आधारोंको लेकर अपना ताना-बाना बुना करता है । मनुष्यको कोई भी दुःख-सुख नहीं देता, दुःख-सुख तो हमारा मन ही देता है । मैत्रीभाव अथवा द्वेष-वैरका भाव, कुकल्पनाएँ या सद्भावनाएँ—सबका कारण मन ही है । इसलिये मनको वशमें करके, भोगोंसे हटाकर सुख-दुःखसे निर्लिप्त रहकर जीवन व्यतीत करना ही जीवनका शान्तिमय मार्ग है ।

यौवन, आनन्द, उत्फुल्लता, उत्साह—ये सब आपके मनकी उच्चतम स्थितियाँ हैं । आयुसे किसी व्यक्तिका जवानी-बुढ़ापा नहीं नापा जा सकता । यौवन हमारी इच्छाकी निष्ठा, सुकल्पनाकी एक विशिष्टता, सामर्थ्य एवं पराक्रमकी एक साहसिक मनःस्थितिमात्र है ।

वृद्धत्व कल्पनाकी हीन दशाकी स्थिति है । जिस व्यक्तिमें इच्छाशक्ति और सामर्थ्यका ह्रास हो जाता है, वही वृद्ध है । जिसमें इच्छाशक्ति और सामर्थ्यका अभाव नहीं है, उस मनःस्थितिवाला व्यक्ति चाहे शरीरसे झुर्रियोंवाला ही क्यों न हो, मनमे आशावान् और उत्साहपूर्ण है ।

स्मरण रखिये—चिन्ता, संदेह, विषाद ,आत्म-संशय, भय और निराशा आदि वे कुत्सित मनःस्थितियाँ हैं, जो किसी भी विकासोन्मुख व्यक्तिको धूलि-धूसरित कर देनेमें समर्थ हैं । इसके विपरीत जिसे उच्च विषयों, उन्नति तथा शक्तिवर्द्धन, ब्रह्मचिन्तनमें उत्साह है, वह एक स्वस्थ मनःस्थितिमें निवास कर रहा है । ऐसा व्यक्ति विषम परिस्थितियोंकी भयावनी चुनौतीको बच्चोंकी अतृप्त जिज्ञासाके समान उल्लास और जीवनकी क्रीड़ा समझता है । आप उतने ही युवक हैं, जितना आपमें विश्वास है, उतने ही वृद्ध हैं जितना अपने तथा अपनी शक्तियोंके प्रति संदेह है । आप उतने ही जवान हैं जितनी आपमें आत्मदृढ़ता है और उतने ही बूढ़े हैं जितना आपमें भय है । आशा जवानीकी प्रतीक है, निराशा बुढ़ापेकी निशानी । जबतक पृथ्वीपर आपका हृदय सौन्दर्य, उल्लास, साहस, वैभव और शक्तिका संदेश देता है, तबतक आप युवक हैं, उन्नतिशील हैं ।

अपने जीवनमें कुछ समय एकान्त-चिन्तनके लिये अवश्य रखिये और उसमें सोचिये कि आपके सम्पूर्ण दिनका विचार-प्रवाह, शुभ चिन्तन अथवा अशुभ चिन्तन कैसा रहा है ? आज आपने कितना स्वयं अपना, तो कितना दूसरोंका शुभ चिन्तन किया है ? कितना व्यर्थके बकवाद, पर-निन्दा, दोषदर्शनमें नष्ट किया है ? दूसरोंसे कब-कब और क्यों लड़े-झगड़े हैं ? शान्तिके लिये क्या किया है ? वासनाके कुचक्रमें पड़कर आप क्या करते रहे हैं ? आपकी आजकी भावनाएँ, आवेग, अन्तर्द्वन्द्व कैसे रहे हैं ? नव-निर्माणके हेतु आपने क्या किया है ? इन प्रश्नोंके उत्तरसे आपको विदित होगा कि आप कितने भले अथवा बुरे हैं ।

मनको स्वस्थ रखिये; सद्भावों और शुभ विचारोंसे परिपूर्ण सरस बनाये रहिये । स्वस्थ मन स्वयं अपनी

उन्नति और श्रमकी शुभ कामनाएँ रखता है। नयी शिक्षा, नया अनुभव ग्रहणकर श्रेष्ठ नागरिक बननेका प्रयत्न करता है।

अपने मनको ऐसा नियन्त्रित कीजिये कि वह शुभ दर्शन, सत्कामना, हितचिन्तनमें हीं संलग्न होता रहे। अपने 'अहं' को सद्विचारमें लगाना स्वस्थ मनकी निशानी है। दूसरोंकी व्यर्थ टीका-टिप्पणी, व्यर्थ आलोचना, नीचा दिखानेकी मनोवृत्ति अस्वस्थ मनके प्रतीक हैं। परच्छिद्रान्वेषणसे हमारे अहंकी प्यास तृप्त नहीं होती वरं हम अधिकाधिक अतृप्त, दुखी और अशान्त बनते हैं। ऐसी विषमता रोग है। मानसिक संतुलनमें ही मनका स्वास्थ्य है।

धर्मके नामपर पाखण्ड क्यों ?

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमजी शर्मा)

विषमता, कष्ट, दैन्य और प्रवञ्चनाओंसे भरे इस संसारमें भगवन्नाम और ईश्वरोपासना मानवको संकटपूर्ण क्षणोंमें पर्याप्त धैर्य और साहस प्रदान करती है, सार्वभौमिक मानव-समाजकी कोई भी श्रेणी इस सत्यका अपवाद नहीं है। फिर भारतवर्ष तो सदासे ही धर्मभीरु और धार्मिक प्रवृत्तियोंका उद्गम रहा है। उसने धर्मको मानव-कल्याणके साधनके रूपमें ही अपनाया है और यही कारण है कि वह विश्वको राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी-जैसी विभूतियाँ दे सका।

लेकिन आजका संसार बदल गया है—वह वस्तुवादी अधिक है, अध्यात्मवादी कम। वस्तुवाद और धर्मका मेल बहुत कठिन है और इसीलिये धर्म आज स्वार्थमय तथा द्वेषमय वातावरणमें कलुषित हो गया है। धर्मका अन्तिम लक्ष्य ईश्वर है, धार्मिक साधनाकी पूर्णाहुति है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओंके अनुसार धर्मको अपनाता रहा है, हमारी पुरानी दुनिया मानवताके अधिक निकट थी, इसलिये धर्मका रूप पवित्र था। आज संसार पाशविकताके अधिक निकट है, इसलिये धर्मका जो वर्तमान विकारी रूप हमारे सामने है, वह वस्तुतः धर्मसे बहुत दूर है। इसीलिये मानवको कष्टसे मुक्ति नहीं मिलती। साधनकी दुर्बलता या सबलता उन हाथोंमें है जो उसका प्रयोग करते हैं; धर्म भी एक साधन है, दुर्बल हाथों और अविवेकी संरक्षणमें पड़कर उसका भी दुरुपयोग होता है, वह भी कलुषित हो उठता है और यह धर्मका दोष नहीं है।

धर्म पाखण्डका दूसरा नाम नहीं है। धर्म और पाखण्डमें उतना ही अन्तर है जितना अमृत और हलाहलमें। एक जिलाता है, चेतना प्रदान करता है, तो दूसरा जड बना देता है। फिर भी पाखण्डको प्रश्रय मिलता है और वह धर्मको निष्प्राण और दीन-हीन बनाकर स्वयं वैभवशाली बन जाता है।

कुछ अविवेकी जनता, जिसका अधिकांश भाग, पाखण्डकी चमक-दमकसे आकर्षित होता है, ठगा जाता है। ठगनेवालोंमें हमारे स्त्री-समाजकी प्रधानता है। धर्मके नामपर उसे जैसे चाहे नचाया जा सकता है, यही कारण है कि विकारग्रस्त हृदयोंके पथभ्रष्ट कपटी पुरुषोंद्वारा धर्मके नामपर किये जानेवाले समारोहों और उत्सवोंमें स्त्रियोंकी ही प्रधानता रहती है। लेकिन सचमुच क्या इन समारोहोंमें धर्मका वास्तविक प्रतिपादन होता है ? यह प्रश्न विचारणीय है।

आज धर्मके नामपर आधुनिक मीरा देवियाँ, और कृष्ण जैसा-जैसा कुकृत्य करते हैं, यदि उनका पूरा विवरण दिया

जाय तो मानवता सिहर उठेगी। ये निश्चित रूपसे धर्मके नामपर अन्याय करते हैं और उनको भी कलंकित करते हैं जो निष्काम भावसे ईश्वरकी उपासनामें लगे हैं।

अपने नारी-समाजसे इतना ही कहना है कि उसके जीवनकी सार्थकता सुगृहिणी बननेमें है। उसके सामने अपनी संतानको राष्ट्रका आदर्श योद्धा बनानेका पुण्य कार्य हैं। उसके सामने त्याग और सेवाकी तपस्या है। उसमें इतनी दृढ़ता होनी चाहिये कि उसे कोई लक्ष्य-भ्रष्ट या पथभ्रष्ट न कर सके। वह अपनेको इन नकली मीराँदेवियों, कृष्णोंसे सदा अलग ही रक्खे।

सरकारका और समाजके नेताओंका कर्तव्य है कि वे इन पाखण्डियोंसे तथा पाखण्डसे भोली जनताको बचायें और समाजकी गृहिणियोंको समझायें कि उनके कर्तव्यकी परिधिमें उनकी गृहस्थी मुख्य है, शेष सब गौण है। धर्मके नामपर होनेवाली सौदागिरीसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

ॐ

(लेखक—आचार्य श्रीविद्यानन्दजी विदेह)

यजुर्वेद (२ । १३) में कहा है—'ओं प्रतिष्ठ'—ॐमें प्रतिष्ठित—समाहित हो जा। यजुर्वेद (४० । १५) में पुनः कहा है—'ओं क्रतो स्मर'—कर्तः आत्मन्! ॐ स्मर।

समाहिति—साक्षात् अनुभूतिके लिये, प्रेमी भक्त 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' (ऋग्वेद ५ । ८१ । १) मन और चित्त-वृत्तियोंका निरोध करते हैं। सूक्ष्मकी साधना एकाग्रतासे होती है। ॐ सर्वातिसूक्ष्म है। अतः आसनस्थ होकर, चित्तवृत्तियोंको, प्रथम अन्तर्मुख, फिर निरुद्ध करके ॐका जाप करो। गाते-गाते ध्वनि लीन होनेपर पुनः मानस-जाप करो। मानस-जाप करते-करते आत्मलीन—समाहित होकर साक्षात् अनुभूतिका अनुभव करो।

अभ्यास किये जाओ। पट खुलेंगे। पीय मिलेंगे। भेद मिटेगा। फिर न जाप रहेगा, न ध्यान। तब प्रतिक्षण, प्रतिनिमेष, सोते-जागते, स्वतः श्वास-श्वासपर ॐ स्वरित हुआ करेगा, अन्तमें अनवरत ज्योति जगमगाया करेगी।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगदर्शन १ । २८)। उस ॐका जाप उसके वाच्यकी भावनासे करे। भावनासे ही भावकी प्राप्ति-प्रतीति—अनुभूति होती है।

अ+उ+म्=ओम्। सन्धि-योगसे अ और उ को युक्त करनेपर ओ होता है, म् सन्धिका अवसान है। यह भावना है जिससे समवेत होकर ॐका जाप करे।

अ स्वर है, उ स्वर है। अ, उ दोनों स्वर हैं, अतः सम हैं। म् हल व्यञ्जन है, अ, उ से विषम है, असम है। स्वरका अर्थ है स्वतन्त्र, स्वयंस्वरित। व्यञ्जनका अर्थ है चटनी, भोग, माया, इन्द्रिय। स्वर स्वयंस्वरित है, उसके उच्चारण-संचालनमें व्यञ्जनकी अपेक्षा नहीं, परंतु व्यञ्जन स्वयं नहीं, स्वरकी व्याप्ति-सहायतासे ही उच्चारित-संचालित होता है। ब्रह्माण्ड-व्यञ्जन ब्रह्म-स्वरसे संचालित होता है, शरीर-व्यञ्जन आत्म-स्वरसे।

अ सर्वव्यापक है, समस्त स्वरों और व्यञ्जनोंमें समाया हुआ है। अ न ह्रस्व है, न दीर्घ, न प्लुत—सर्वव्यापक है। उ ह्रस्व है। ओ दीर्घ है, प्लुत है। म् न ह्रस्व है, न दीर्घ, न प्लुत—अनुच्चार्य है, नगण्य है।

उ के एक ओर अ है और दूसरी ओर म्। उ यदि अ से युक्त होता है तो दीर्घ वा प्लुत ओ हो जाता है। उ यदि अ को छोड़कर म् से मिलता है तो उम् बनता है, ह्रस्वका ह्रस्व ही रह जाता है। समसे समका योग होनेपर दीर्घता—विशालता—अभिवृद्धि होती है। सम और असमके योगसे विषमता होती है।

अ सर्वव्यापक ब्रह्म है। उ ह्रस्व अल्प आत्मा है, म् माया है। आत्मा ब्रह्म और मायाके बीचमें स्थित है। ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा ब्रह्ममय हो जाता है, दीर्घ, सुदीर्घ, सुविशाल अतिशय महान् हो जाता है। मायासे युक्त होकर

आत्मा मायामय रहता है, अल्प रह जाता है।

अ सर्वज्ञ ब्रह्म है। उ अल्पज्ञ आत्मा है। म् जड प्रकृति है। सर्वज्ञसे युक्त होकर आत्मा बहुज्ञ—परम ज्ञानी हो जाता है; जड प्रकृतिसे युक्त होकर आत्मा अल्पज्ञका अल्पज्ञ ही रह जाता ह।

अ आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। उ भोक्ता आत्मा है। म् भोगमय माया है। आनन्दस्वरूप ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा अक्षय आनन्दसे युक्त रहता है। भोगमय मायासे युक्त होकर आत्मा सदा त्रस्त रहता है।

अ मुक्त ब्रह्म है। म् बद्ध माया है। मुक्त ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा मोक्षको प्राप्त होता है। बद्ध मायासे युक्त होकर आत्मा बद्ध रहता है।

अ निर्लेप अनासक्त ब्रह्म है। म् लेपनशील आसक्तिमय माया है। निर्लेप ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा अनासक्तिको प्राप्त करता है। आसक्तिमय मायासे युक्त होकर आत्मा आसक्तिसे मूढ़ताको प्राप्त रहता है।

अ द्वन्द्वातीत ब्रह्म है। म् द्वन्द्वमय माया है। द्वन्द्वरहित ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा निर्द्वन्द्व रहता है। द्वन्द्वमय मायासे युक्त होकर आत्मा सदा द्वन्द्वपीड़ित रहता है।

अ निराकार ब्रह्म है। म् साकार माया है। निराकार ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा जीवन्मुक्त विदेह हो जाता है। साकार मायासे युक्त होकर आत्मा विकारोंसे व्यथित रहता है।

अ निर्गुण ब्रह्म है। म् सगुण माया है। निर्गुण ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा गुणातीत हो जाता है। सगुण मायासे युक्त होकर आत्मा त्रिगुणोंसे व्याधित रहता है।

अ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है। म् अशक्त माया है। सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा सर्वशक्तियोंसे युक्त होता है। अशक्त मायासे युक्त होकर आत्मा अशक्त रहता है।

अ सर्वप्रेरक सर्वस्रष्टा सविता ब्रह्म है। म् दीन माया है। सविता ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा विश्वप्रेरक संसर्जक सविता बनता है। दीन मायासे युक्त होकर आत्मा दीन रहता है।

अ निवारक ब्रह्म है। म् बाधक माया है। निवारक ब्रह्मसे युक्त होकर आत्मा तापसंतापों, एषणाओं और विषमता-विकारोंका निवारण करता है। बाधक मायासे युक्त होकर आत्मा बाधाओंसे बाधित रहता है।

अ और उ के योगपर म् का अवसान होता है। अ और उ मिलकर ओ हो गया। अब ओ का उच्चारण करो, गायन करो। ओ के उच्चारण या गानके आरम्भमें होंठ खोलो और अवसान—समाप्तिपर, आनन्दातिरेकसे, प्रेमसे, दोनों होंठोंको परस्पर चुम्बन कराओ और प्रयत्न करो कि ओष्ठावसानपर म् न बुले। परंतु न चाहते हुए भी ओके उच्चारणके अवसानपर होंठोंके मिलते ही अवसानात्मक म् ध्वनित होगा।

आत्माके ब्रह्मसे युक्त होनेपर समस्त क्लेश कर्पूर हो जाते हैं, सब ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, तम हट जाता है, माया मिट जाती है, आत्मा ब्रह्मप्रकाशमें अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपका अवलोकन करके निर्भय और आनन्दी हो जाता है।

ब्रह्मलीन होनेपर सब अनुष्ठानोंकी समाप्ति हो जाती है, समस्त साधनाओंका अवसान हो जाता है। तब अमर खिलाड़ी यह आत्मा देहमें जीवन्मुक्त विदेह हुआ, मायासे अमोहित रहकर अनासक्तिपूर्वक दक्षतासे कर्तव्य-कर्मोंका सम्पादन करता है और देहावसानपर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।

अर्थ तो शब्दका हुआ है। ॐ शब्द नहीं, भाव है। ओं का शाब्दिक अर्थ नहीं, भाव है। ओं का जाप, ध्यान, श्वसन, मनन, सब ओं की भावनासे करो। ऊपर वर्णित भावनासे युक्त होकर भावमें भाव भरो। भावना ही भावकको भावकी प्रतीति कराती है।

भावक! भव्य भावनासे भावित होकर भावको भावोंसे भर, प्राणोंसे पूर, ध्वनियोंसे ध्वनित कर, स्वरोंसे स्वरित कर, वाणीसे जप, कण्ठसे गा, हृदयसे थिरक, मनसे मथन कर, चित्तसे चिन्त, बुद्धिसे विचार। दर्शन होंगे। मिलन होगा। विरह-व्यथाका, क्रिया-कलापका, मायाका अवसान होगा। तब अंदर-बाहर आनन्द, केवल आनन्द होगा। तू केवलानन्द हो जायगा।

ओं प्रतिष्ठ!

ओं स्मर!!

ओं खं ब्रह्म!!!

भूल-भुलैयाका खेल

(लेखक—श्रीमन्त प्रतापसेठजी)

हम ऐसा समझते हैं कि वस्तु या क्रिया—जैसी हमको इन्द्रियोंसे माल्रम होती है, वैसा ही उसका ज्ञान भी हमको होता है। ज्ञानसे वस्तुमें या क्रियामें कोई भी अन्तर नहीं होता; परंतु यह बात सत्य होती तो ज्ञान होनेके बाद जैसी वस्तु या क्रिया शब्द-स्पर्शादि गुणोंके सहित माल्रम होती है, वैसी ही ज्ञान होनेके पहले भी शब्द-स्पर्शादि गुणोंके सहित हमको माल्रम होनी चाहिये थी, 'परंतु केवल इन्द्रियोंसे तो हमको यानी बुद्धिको कुछ भी दीखता नहीं।' बुद्धि लगाये बिना गुणोंका ज्ञान होता ही नहीं। हमारे सामनेसे गाय चली गयी, हमारी आँखें खुली भी रहीं; परंतु हमारा ध्यान यानी बुद्धि उस ओर नहीं रही तो हमको गौका ज्ञान नहीं होता। इससे ऐसा माल्रम होता है कि वस्तु या क्रियाका ज्ञान होनेके पहले गुण नहीं रहते। वे वस्तु या क्रियाके ज्ञानमें ही लगते हैं। हमारे प्रत्येक व्यवहारमें और सब व्यवहारमें सब समय हम ऐसा समझते हैं कि जैसा हमको इन्द्रियोंसे दीखता है वैसा ही हमको उसका ज्ञान भी होता है। यह भूल-भुलैयाका खेल सब समय हमारे सब व्यवहारोंमें चलता रहता है; परंतु इसका ज्ञान न होनेसे यह भूल हमारे सब व्यवहारोंमें सदा ही चालू रहती है और इसीको हम सत्य समझते हैं। यही भूल-भुलैयाका खेल है।

परम दार्शनिक और महात्मा स्पिनोज़ा (Spinoza)

(लेखक—रायबहादुर श्रीपुत्तनलालजी विद्यार्थी)

भारतके कुछ विद्वानोंका विचार है कि वैदिक ऋषि सत्यके ज्ञानी भी थे और द्रष्टा भी। पीछेके लोगोंको ज्ञान तो रहा पर दृष्टि नहीं रही। दृष्टि-प्राप्तिके प्रयाससे ही दर्शनोंका सृजन हुआ। ऐसे पश्चिमीय सद्दर्शनके इच्छुकोंमें स्पिनोज़ाका स्थान उच्च है।

ज्योतिके सच्चे पुजारियोंमें दो गुण होने आवश्यक हैं—(१) ज्ञानकी प्रबल पिपासा और (२) भोगलिप्सा तथा लोभकी न्यूनता और फलतः विचार-स्वतन्त्रता तथा निर्भीकता। ये सब गुण स्पिनोज़ामें थे। उनका जन्म यहूदी धर्ममें हुआ था, जिसके महानुभावोंका उपदेश है 'संसारकी वस्तुएँ प्राप्त करनेके लिये अपने हाथोंका प्रयोग करो और दैवी विचारोंके लिये मस्तिष्कका।' स्पिनोज़ाने यही किया। अपनी जीविका-उपार्जनके लिये वे ऐनकके ताल रगड़ा करते थे।

निर्लोभी ऐसे थे कि कचहरीसे अपने पक्षमें निर्णय होनेके बाद उन्होंने पैतृक सम्पत्ति अपनी बहिनको दे डाली। धर्माध्यक्षोंने उनसे कहा कि 'यदि वे प्रचलित मतका विरोध न करें और दिखावेके लिये भी उसके अनुयायी बने रहें तो उन्हें पाँच सौ डालर वार्षिक मिला करेंगे।' स्पिनोज़ाने इसे अस्वीकार किया और वे बिरादरीसे बहिष्कृत कर दिये गये।

वे एक कमरेवाले छोटेसे मकानमें ही गुजर करते थे। एक धनी व्यापारीने उनकी आर्थिक सहायता करनी चाही और उन्हें एक सहस्र डालर भेंट किये तो स्पिनोज़ाने अस्वीकार कर दिये। उस व्यापारीने अपनी सारी सम्पत्तिका उन्हें अधिकारी बनाना चाहा, तो उन्होंने फिर अस्वीकार कर दिया। जब उस व्यापारीने

अपनी मृत्युपर २५० डालर वार्षिक उनके नाम कर दिये तो उन्होंने उस रकमको घटाकर १५० डालर कर दिया । फ्रांसके चौदहवें लुई, जो उस समयके बड़े प्रतापशाली और सम्पन्न महाराज थे, इस शर्तपर पेंशन देना चाहते थे कि स्पिनोजा अपनी अगली पुस्तक उन्हें समर्पित करे, तो इन्होंने मंजूर नहीं किया और कह दिया कि जिसका आदर उनके हृदयमें नहीं है उसकी वे प्रशंसा नहीं कर सकते ।

विख्यात हीडलबर्ग विश्वविद्यालयके दर्शनके मुख्याध्यापकका स्थान उन्हें दिया जाता था और अपने सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहती, केवल इतना प्रतिबन्ध रहता कि राज्यके स्वीकृत धर्मपर आघात न किया जाय । स्पिनोजाने धन्यवादसहित इसे अस्वीकार कर दिया । क्षय रोगसे पीड़ित रहनेपर भी निर्धनता स्वीकार की, पर अपने विचारों और कृतियोंपर कोई प्रतिबन्ध सहन नहीं किया । वे निःस्पृह और पूर्ण स्वतन्त्रता-प्रेमी थे ।

स्पिनोजाका जन्म सन् १६३२ और मृत्यु १६७७ में हुई । शङ्कराचार्य और परमहंस स्वामी रामतीर्थकी मृत्यु भी अल्पायुमें हुई । वे हेतुवादी (Rationalist) थे । उनका गुजर परम्परा-भक्त यहूदी समाजमें कैसे हो सकता ? उनका बहिष्कार बड़ा कठोर था, उनसे कोई बात न करे, उनका कोई काम न करे, उनके साथ कोई घरमें न रहे । उनके हाथका लिखा या उनका लिखा हुआ लेख कोई न पढ़े । उस समय उनकी आयु केवल २४ वर्षकी थी । प्रचलित मतका विरोधी एक (Heterodox) उच्च विद्वान् वान डेन एंडि था, जिसे फ्रांसके चौदहवें लुईने सार्वजनिक स्थानमें फाँसीका दण्ड दिया था । उसकी विदुषी पुत्रीसे स्पिनोजा लैटिन भाषा पढ़ते थे । उससे स्पिनोजाने विवाह करनेको कहा, पर ये निर्धन थे और यहूदी थे । उसने अस्वीकार कर दिया और अपने अन्य विद्यार्थीसे विवाह कर लिया । इस घटनाने इन्हें पक्का दार्शनिक बना दिया । यह मानसिक खेलके खिलाड़ी हो गये । अब ईश्वरीय रहस्य और जीवनके अभिप्रायकी खोजमें जीविकोपार्जनसे बचा हुआ सब समय लगने लगा । ये घरसे कम निकलते थे । बस भोजनके लिये दूध, आटा आदि मोल लेने बाजार जाते थे । कभी-कभी किशमिश भी ले आते थे । इन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसमें यहूदियोंकी पुरानी बाइबिल ओल्ड टेस्टामेंटके कठोर ईश्वरको त्यागकर नयी बाइबिलके अधिक दयालु भगवान्‌को अपनाया । स्पिनोजाकी मृत्युके समय इनके कमरेमें केवल एक डाक्टर था, जो मेजपर रक्खा हुआ धन लेकर और इनके शवको अकेला छोड़कर चला गया ।

स्पिनोजाने इन प्रश्नोंपर विचार किया—

१. यह संसार, जिसमें हम रहते हैं, कैसे बना ?

२. हमें यहाँ किसने और क्यों रक्खा है ?

इन्हीं प्रश्नोंसे ईश्वर और मनुष्य-जीवनकी जिज्ञासाका आरंभ होता है ।

संसार अनन्त है । आकाशमें कहीं उसका आदि नहीं है । यदि आरम्भ माना जाय तो उसके पूर्वकी क्या कल्पना की जायगी ? शून्यकी ? पर शून्यकी कल्पना नहीं हो सकती । अतः आकाशमें न आदि है, न अन्त, अर्थात् संसार अनन्त है । जैसे आकाश (Space) में अनन्तकी कल्पना अनिवार्य है, वैसे ही कालमें भी अनन्तकी कल्पना करनी होगी । संसार सर्वव्यापी, अनन्त और पूर्ण है । स्मरण कीजिये—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इस अनन्त संसारमें पृथ्वी, सूर्य, तारे, नक्षत्र सब बालुका-कणके समान असंख्य हैं और जगत् (Cosmos) में अनेक अनगिनत ब्रह्माण्ड पड़े हैं ।

यही अनन्त और पूर्णता तत्त्व है। सत् शब्द बड़े महत्त्वका है। सत्का अर्थ स्पिनोज़ाके अनुसार, केवल 'है' नहीं है, सत्के अर्थमें 'था' और 'होगा'का भी समावेश है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

गीता अ० २ श्लोक १२ के भावका उपदेश पढ़कर बड़ा संतोष होता है। इस संसारमें हमें लानेवाला ब्रह्म ही है और वही जगत् है। ('सर्वं खल्विदं ब्रह्म।') संसारकी हर वस्तु ब्रह्मका क्षणिक भाव है। हम सब उसीके शरीरके एक घटक हैं, उसीके मनका एक संकल्प हैं, उसीके काव्यका एक पद हैं। हम अपने पञ्चेन्द्रियवाले छोटे शरीरसे अपनी अल्पबुद्धिसे सत्यके एक अल्पांशको ही समझ सकते हैं, मानो एक बंदीगृहकी एक छोटी दरारके द्वारा हम महत् समुद्र या बृहत् आकाशको देख रहे हों। यह दशा बड़े-से-बड़े ज्ञानीकी भी है। बड़े-से-बड़ा दार्शनिक भी एक शिशु है।

हमारी शिशु या बाल-बुद्धिके अनुसार भी प्रतीत होता है कि जो कुछ है, सब ब्रह्ममें ही है और सब कुछ ब्रह्मरूप है। उसीकी बुद्धिसे जगत्का नेतृत्व होता है, उसी कलाकारकी कलासे जगत्का निर्माण होता है, उसीका शरीर यह जगत् है। वही भीतर भी है और बाहर भी।

भारतीय ऋषिवाक्यकी तुलना कीजिये—

यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।
अनन्तमव्ययं कविं समुद्रेन्तं विश्वशम्भुवम्॥

स्पिनोज़ाने वही भाव व्यक्त किये जो इस देशमें सहस्रों वर्ष पूर्व कहे गये थे। स्पिनोज़ाने केवल यही नहीं कहा कि घासका हरेक स्तम्भ (blade), मिट्टीका हरेक ढेला, फूलकी हरेक पंखुड़ी, हर प्राणी, वह चाहे जितना नगण्य हो, ईश्वरीय शक्तिका व्यक्त रूप है, वरं यह भी कहा कि आकाशवर्ती महत्पिण्डसे लगाकर तुच्छ और हीन भिखारी सब उसी जीवन-छन्दरूपी कविताके समान महत्त्ववाले पद हैं। यह समान महत्त्वका प्रत्यय (Idea) गीतामें भी है। अध्याय १३, श्लोक २८—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

आश्चर्य है कि यह गीताका भाव यूरोपके हालैंड देशमें भी उदय हुआ।

प्रत्येक मनुष्य-शरीर, ईश्वरीय-शरीरका भाग है, मनुष्यका प्रत्येक विचार ईश्वरके मनकी उपज है। (बड़ा कठिन है इस भावको समझना या मानना। क्या प्रत्येक पाप, प्रत्येक हत्याके विचारका दायित्व ईश्वरपर है?) ईश्वरका दृष्टिकोण हमारे दृष्टिकोणसे भिन्न है, जैसे पुत्रोंके पिताका दृष्टि-कोण प्रत्येक पुत्रके दृष्टिकोणसे भिन्न हो सकता है। उसे तो सारे परिवार-का विचार रहता है। जगत्का संचालन हमारी व्यक्तिगत इच्छासे नहीं होता। ईश्वरका ज्ञान और योजना दोनों सर्वव्यापी हैं। देश और काल, दोनों विचारोंसे अल्प हमारे ज्ञानसे ईश्वरीय ज्ञान अधिक दूरदर्शी होता है। यहाँतक कि हमारे लिये ईश्वरीय कार्यको समझना भी कठिन होता है।

यह विश्वास करना कि संसारका निर्माण मनुष्यके सुखके लिये हुआ है, इतना ही युक्ति-सङ्गत है जितना यह विचारना कि मनुष्यके हाथ-पैर मच्छरोंके काटनेके लिये बने हैं या हमारी नाक ऐनकको आधार प्रदान करनेके लिये बनी है। सारा मनुष्यसमाज ईश्वरीय महती, क्या अनन्त योजनाका एक अति छोटा भाग है। सारी पृथ्वी ईश्वरीय शरीरका, विशाल जगत् (Cosmos) का बहुत छोटा भाग है।

(स्मरण रहे कि ये दार्शनिक १८ वीं शताब्दीके मध्य भागमें हुए थे, उस समय सर जेम्स जीन्स

(Sir James Jeans) ने अपनी रहस्यमय ब्रह्माण्ड (Mysterious universe) नामक पुस्तकमें यह नहीं लिखा था कि सारे सागरोंके तटपर जितने बालुकाके कण हैं उतने ही पृथ्वीके समान पिण्ड सारे जगत्में हैं ।)

संसारमें बुद्धिकी श्रेणियाँ हैं । एक वृक्षकी बुद्धिसे कुत्तेकी बुद्धि भिन्न है । दोनोंमें बहुत थोड़ी समानता है । कुत्तेकी बुद्धिकी अपेक्षा मामूली मनुष्यकी बुद्धि भिन्न है और मामूली मनुष्यकी बुद्धि और कालिदास तथा शंकराचार्य-सरीखे व्यक्तियोंकी बुद्धिमें थोड़ी ही समानता है । पर शंकराचार्य और ईश्वरकी बुद्धिमें वैसी ही तुलना हो सकती है, उतना ही अन्तर है जितना एक वृक्षकी और शंकराचार्यकी बुद्धिमें । अब विचारा जाय कि ऐसी तुच्छ बुद्धिके बिरतेपर किसी व्यक्ति या घटनापर क्रोध करनेका क्या औचित्य हो सकता है । और राष्ट्रोंके बीच युद्ध और मार-काट क्यों की जाय ।

स्पिनोजा आशावादी था । उसके मतमें संसारकी पाठशालामें किसान, मजदूर, कलाकार, कवि और आवारा सभी व्यक्ति विद्यार्थी हैं, जो अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके अनुसार ऊँची-नीची श्रेणियोंमें भरती हैं । एक दिन सभी उच्चतम श्रेणीमें पहुँचकर महात्मा बनेंगे ।

एक संगीतज्ञ एक राग बनाता है । एक चित्रकार चित्र बनाता है । वह किसी स्वर या रेखाको बदलकर दूसरी कर देता है । उस गलत स्वर या रेखाका भी उपयोग हुआ; क्योंकि कलाकारके मानसिक विकासमें उसने सहायता की । कोई मात्र, स्वर या रेखा व्यर्थ नहीं जाती । इसी प्रकार कोई जीवन व्यर्थ नहीं, चाहे वह कितना ही छोटा, नगण्य और दुःखमय क्यों न हो । इस रंग-बिरंगे गुलदस्तेमें, इस पँचरंगे चित्रमें सभी रेखाएँ ईश्वरका भाग हैं । इस 'सर्वं खल्विदम्' सिद्धान्तका परिणाम बड़ा श्रेयस्कर है । उसका नैतिक फल जगत्के लिये अत्यन्त हितकर है; क्योंकि सारा संसार एक शरीर और एक आत्मा होनेसे कोई अपनेको हानि पहुँचाये बिना किसी दूसरेकी हानि नहीं कर सकता । बिना अपनी उँगली काटे पड़ोसीकी उँगली नहीं काटी जा सकती ! पड़ोसीकी आँख अपनी आँख फोड़े बिना नहीं फोड़ी जा सकती ! हम सबका सुख सबोंके सुखपर निर्भर है । हम सब सगे भाईसे भी अधिक निकट हैं ।

यही उपदेश गीतामें भी है । देखिये अध्याय १८ श्लोक २०—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

यही श्रेष्ठ ज्ञान है ।

'ईश्वरने हमें संसारमें क्यों रक्खा' ? इस प्रश्नका उत्तर है कि हम आनन्द-प्राप्तिके लिये संसारमें उत्पन्न हुए हैं, पर आनन्द है क्या ? सुखका भाव और दुःखका अभाव । इसके लिये ईश्वरीय नियम जानने और समझनेकी आवश्यकता है । हर वस्तु, हर घटना नियमके अनुसार होती है । स्पिनोजा नियति-वादी थे । व्यास, कालिदास और शंकराचार्यका जन्म नियत था । जैसे लगायी हुई शक्तिसे प्रेरित निर्दिष्ट दशामें तीर जाता है, वैसे ही मनुष्य भी कार्य करता है । अन्तर इतना है कि तीरमें चेतना नहीं है, मनुष्यमें चेतना है; जिसे वह भ्रमवश संकल्पकी स्वतन्त्रता समझता है । हम इस संसाररूपी नाटकके दर्शक मात्र हैं । उसमें परिवर्तन करनेका अधिकार हमें नहीं है । हमारे निर्णय न केवल हमारे अपने भूतकालके परिणाम हैं, वरं हमारे सब पूर्वजोंके विगत जीवनके फल हैं ।

विख्यात मुसल्मान कविकी उस उक्तिका ध्यान कीजिये जिसमें उसने कहा है कि संसारके आरम्भमें ही यह निश्चय हो गया था कि यह कविता लिखी

जायगी। नियतिवादके माननेवाले बहुत हैं और अब भी सन् १९५५ में भी, पर्याप्त संख्यामें हैं। पर यह सिद्धान्त पृथ्वीके हितके लिये नहीं कहा जा सकता। हाँ, असफल जीवनमें संतोष दे सकता है।

अतः स्पिनोज़ाके मतमें हमें अपनी न्यूनता, अपनी सीमाको समझना चाहिये। हम इस दैवी महान् यन्त्रमें एक अति छोटे भाग हैं। हमें अपनेहीसे प्रेम करना चाहिये, जिसका अर्थ है सबसे प्रेम करना। प्रेम, सुख, आनन्दका तभी सर्वोत्तम विकास है जब सब उसके भागी हों, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति जानता है कि वह दूसरोंकी सहायता करके ही अपनी सहायता कर सकता है, व्यक्तिगत आनन्द सार्वजनिक आनन्द है। घृणा और द्वेषसे, घृणा-द्वेष उत्पन्न होते हैं। दूसरोंको हानि नहीं पहुँचानी चाहिये; क्योंकि इस प्रकार अपनी ही हानि होती है। हरेक सैनिक-विजय भविष्यमें प्रतिशोधके बीज वपन करती है, भविष्यके युद्धकी नींव डालती है। यही तो आज श्रीजवाहरलालजी नेहरू उपदेश करते रहते हैं। सच्ची विजय शस्त्रास्त्रसे नहीं, आत्माकी महानतासे प्राप्त होती है। (महाराज अशोककी उक्तिका स्मरण कीजिये।)

वास्तविक धार्मिक व्यक्ति, वास्तविक सुखी व्यक्ति होगा, वही वास्तविक बुद्धिमान् होगा। वह दूसरोंके प्रति उदार होगा; क्योंकि वह जानता है कि अपने प्रति सर्वोत्तम उदारताका यही ढंग है। अतः सुखकी खोज ज्ञान-विज्ञानद्वारा करनी चाहिये। मनुष्य और मनुष्यमें जो सम्बन्ध है, उसे समझना चाहिये। जो यह समझता है वह किसीसे घृणा, द्वेष नहीं करता, किसीसे भय नहीं करता। (न बिभेति कदाचन) उसका प्राचीन सुनहला नियम होगा—'अपने लिये कोई ऐसी इच्छा न करो जो दूसरोंके लिये न करते हो।'

यह शिक्षा उपनिषद् तथा गीताके छठे अध्यायके ३२ वें श्लोकका ध्यान दिलाती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

सभी ईश्वरके समान भाग हैं। अपने साथ प्रेम करनेका अर्थ है सबके साथ प्रेम करना और सबके साथ प्रेम करनेका अर्थ है ईश्वरके साथ प्रेम करना और इसीलिये हम संसारमें आये हैं।

प्रेम हमारे सांसारिक जीवनको अनन्त आनन्दमें परिवर्तित कर देता है। यह वह भावना है जो हमारे अस्तित्वको बनाती है। प्रेमसे मृत्युका कष्ट विलीन हो जाता है; क्योंकि जो मानवतासे प्रेम करता है उसे मृत्युका भय छू नहीं सकता। मृत्यु तो एक घटना मात्र है, जो मनुष्यको अमरत्वकी ओर ले जाती है। स्पिनोज़ाने भारतीयोंके प्रसिद्ध उदाहरणको अपनाया। सूर्यका प्रतिबिम्ब अनेक जल-पात्रोंमें दिखायी पड़ता है, जल सूख जानेपर या पात्रके टूट जानेपर प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता, पर सूर्य पूर्ववत् बना रहता है। मनुष्य-शरीरके नाशपर आत्मा पूर्ववत् बना रहता है; क्योंकि वह नित्य है, ईश्वरका अंश है। गीताके १५ वें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भी कहा है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' तुलसीदासने भी रामायणमें कहा है 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'

स्पिनोज़ा तो जीवको ईश्वरका साकार भाव, दैवी-काव्यका समयके पृष्ठपर छपा हुआ एक पद कहते हैं। यह वैसा ही है जैसे ग्रीक कवि होमरकी कविता किसी पुस्तकके पृष्ठपर छपी होती है। जब पुस्तक फेंक दी जाती और पृष्ठ नष्ट हो जाता है तब छपी हुई वस्तु विलीन हो जाती है पर कविताका नाश नहीं होता; क्योंकि वह अक्षय है। पृष्ठ फाड़े जा सकते हैं, पर विचार फाड़ा नहीं जा सकता। जब रंगीन दूरबीनका शीशा टूट जाता है तब रंग नित्य श्वेत रंगमें लय हो जाता है। जब मनुष्य मरता है, तब उसका आत्मा पानीकी बूँदकी तरह

सागरमें, स्वरकी तरह रागमें, अनन्तमें लीन हो जाता है। सामूहिक नियतिका हमें विचार करना चाहिये और अपने भाग्यसे संतुष्ट रहना चाहिये और जो कुछ बीते, उसे प्रसन्नचित्तसे सहना चाहिये; घृणाके बदलेमें प्रेम देना चाहिये। यही स्पिनोजाकी शिक्षाका सार है। यदि यह प्रतीत होता हो कि संसार तुम्हारे लिये नहीं है तो यह विचारकर सुखी हो कि तुम संसारके लिये बने हो, जीवनकी पुस्तकके तुम एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ हो और तुम्हारे बिना वह पुस्तक अपूर्ण रह जाती है। स्पिनोजा यद्यपि शरीरसे सुन्दर नहीं था (वह अपने कपड़ोंपर भी ध्यान नहीं देता था); पर उसका जीवन सौन्दर्यसे पूर्ण था, मानो एक महान् ग्रन्थका सुन्दर सस्ता संस्करण हो।

ऐसा लगता था कि उसको ईश्वरके दर्शन प्राप्त हुए हैं; क्योंकि उसका हृदय मानव-प्रेमसे परिपूर्ण था।

समझने-सीखनेकी चीज

(१)

बड़ोंका अपमान करना, उनका वध करना और अपने मुँह अपनी बड़ाई करना आत्महत्या करना है।

महाभारत युद्धकी घटना है। अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध कर रहे थे। इस अवसरपर महावीर कर्णने भार्गवास्त्रके द्वारा पाण्डवसेनाको अत्यन्त व्याकुल कर दिया। धर्मराज युधिष्ठिरका कवच, रथकी ध्वजा, धनुष, बाण, शक्ति और घोड़े नष्ट कर डाले। अन्तमें कर्णके बाणोंसे घायल होकर वे छावनीपर चले गये। उनके शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही थी।

यह समाचार पाकर भगवान् श्रीकृष्णके साथ अर्जुन महाराज युधिष्ठिरको देखने छावनीपर आये और धर्मराजको सकुशल देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। धर्मराजने समझा—अर्जुन कर्णका वध करके आये हैं, अतएव वे अर्जुनके बल-पौरुषकी सराहना करने लगे। इसपर अर्जुनने कहा कि 'मैंने जब सुना कि क्रूर कर्णने आपको बहुत घायल कर दिया है; तब मैं एक बार आपके दर्शन करनेको शीघ्रतासे यहाँ चला आया। अब जाकर मैं सेनासहित कर्णका संहार करूँगा। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये।'

युधिष्ठिर कर्णके बाणोंके आघातसे बहुत कष्ट पा रहे थे। अर्जुनके मुखसे कर्णके जीवित होनेका समाचार सुनकर उनको बड़ा क्षोभ हुआ और वे अर्जुनको बहुत-कुछ बुरा-भला सुनाकर अन्तमें कह गये कि 'यदि तुम आज युद्धमें कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो जो कोई तुमसे अस्त्रबलमें बड़ा हो, उसे अपना गाण्डीव धनुष दे दो। धिक्कार है तुम्हारे गाण्डीवको, धिक्कार है तुम्हारी भुजाओंके पराक्रमको और धिक्कार है तुम्हारे असंख्य बाणोंको तथा अग्निदेवके दिये हुए रथ और ध्वजाको।'

इतना सुनते ही क्रोधमें भरकर अर्जुनने तुरंत म्यानसे तलवार निकाल ली। सबके हृदयकी जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मनकी बात ताड़ ली और वे बोले—'अर्जुन! क्या करने जा रहे हो? यहाँ कौन तुम्हारा शत्रु है, जिसका वध करना चाहते हो? कहीं सनक तो नहीं गये? बताओ तुम क्या करना चाहते हो?'

श्रीकृष्णके यों पूछनेपर क्रोधावेशमें ही अर्जुनने कहा—'गोविन्द! मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई मुझसे यह कह देगा कि तुम अपना गाण्डीव दूसरेको दे डालो, मैं उसका सिर काट दूँगा। महाराजने आपके सामने ही मुझसे ऐसा कहा है। अतः इनका वध करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये ही मैंने

तलवार उठायी है। आप भूत-भविष्यको जानते हैं। आप जो आज्ञा देंगे मैं वही करूँगा।'

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको धिक्कार देते हुए कहा कि 'तुम धर्मके रहस्यको नहीं जानते। तभी तो तुमने नासमझ बच्चेकी तरह पहले प्रतिज्ञा कर ली थी और आज प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके बहाने मूर्खतावश धर्मके नामपर अधर्मयुक्त कार्य करनेको तैयार हो गये हो! बताओ तो तुम धर्मके दुर्बोध और सूक्ष्म स्वरूपका भली-भाँति विचार किये बिना ही अपने धर्मात्मा बड़े भाईका खून करनेके लिये कैसे दौड़ पड़े? अज्ञानवश अपनेको धर्मका जाननेवाला मानकर जो तुम धर्मकी रक्षा करने चले हो, उसमें तो हिंसाका पाप भरा है, यह बात तुम्हारे-जैसे धार्मिकके ध्यानमें नहीं आयी?'

इसके बाद भगवान्ने बलाक और कौशिक मुनिकी कथा सुनाकर अर्जुनको सत्यका रहस्य समझाते हुए यह उपदेश दिया कि 'जिसमें हिंसा न हो, वही सत्य है' और अन्तमें पूछा कि 'बताओ, क्या अब भी तुम युधिष्ठिरको मारना धर्म समझते हो?'

भगवान् श्रीकृष्णका भाषण सुनकर अर्जुनका क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने नम्रतासे कहा—'श्रीकृष्ण! आपने वही बात बतायी है, जिसके आचरणसे हमारा कल्याण हो। आप हमलोगोंके माता-पिताके तुल्य हैं। आप ही हमारी परम गति हैं। तीनों लोकोंमें ऐसी कोई बात नहीं है जिसे आप न जानते हों। आप ही परम धर्मको यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जानते हैं। अब मैं महाराज युधिष्ठिरको मारनेयोग्य नहीं समझता। पर मेरी प्रतिज्ञाका क्या होगा? आप अनुग्रह करके कोई ऐसी बात बतलाइये जिससे मेरी प्रतिज्ञाका भी पालन हो जाय और महाराजका भी बाल बाँका न हो।'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि 'धर्मका पालन आगे-पीछेकी सारी बातें सोचकर ही करना चाहिये। अर्जुन! तुम्हें यहाँ अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना हो, तो जिस उपायसे धर्मराज जीवित रहते ही मरेके समान हो जायँ, तुम्हें वही करना चाहिये। वह मैं तुम्हें बताता हूँ। युधिष्ठिर तुम्हारे गुरुजन हैं, तुमने सदा उनका सम्मान किया है। आज तुम उनका तनिक-सा अपमान कर दो। गुरुजनको 'आप' न कहकर 'तू' कह देना उनका वध करनेके समान ही माना जाता है। श्रुतिने भी कहा है कि बड़ेको 'तू' कह देना उसे बिना मारे ही मार डालना है। अतएव धर्मराजके लिये तुम अपने मुखसे 'तू' शब्दका प्रयोग करो। बस, इसीमें उनका मरण हो जायगा। इसके बाद तुम उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे अपनी अनुचित बातके लिये क्षमा माँग लेना। इस प्रकार तुम मिथ्या भाषण और भ्रातृवधके पापसे बच जाओगे।'

भगवान् श्रीकृष्णकी शुभ सम्मति सुनकर अर्जुनने उनकी बड़ी प्रशंसा की और धर्मराजके प्रति कुछ ऐसे कटु शब्दोंका प्रयोग किया, जैसा पहले कभी नहीं किया था।

अर्जुन बड़े धर्मभीरु थे। युधिष्ठिरकी निन्दा कर तो गये पर यह जानकर कि मुझसे बहुत बड़ा पाप बन गया, मैंने धर्मराज-सदृश पूजनीय ज्येष्ठ भ्राताका अपमान किया, उन्हें बड़ा खेद हुआ और उन्होंने बार-बार लंबी श्वास खींचते हुए फिर म्यानसे तलवार निकाल ली। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन! यह फिर क्यों तुमने तलवार उठा ली। अब क्या करना चाहते हो?' अर्जुनने बहुत दुखी होकर कहा—'भगवन्! मैंने हठवश धर्मराजका अपमान करके घोर पाप कर डाला है। इस प्रकारके पापी शरीरको मैं नहीं रखना चाहता। अब इसको नष्ट करनेके लिये ही मैंने तलवार उठायी है।' भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'अर्जुन! एक पापसे बचे तो अब धर्मके नामपर दूसरे पापके लिये

प्रस्तुत हो गये ! भाईका वध करनेसे जिस नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक आत्महत्या करनेपर मिलता है । मैं तुम्हें आत्महत्याका एक और साधन बताता हूँ । वह है—अपने मुँहसे अपने गुणोंका बखान करना । जो अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करता है, वह आत्महत्या करता है ।' इस रहस्यको समझकर अर्जुनने अपनी बड़ाई की और फिर धर्मराजसे क्षमा माँगी । इसपर धर्मराज क्षुब्ध होकर वन जानेको तैयार हो गये । तब श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रतिज्ञाका रहस्य बतलाया और समझाकर युधिष्ठिरको प्रसन्न किया ।

(२)

श्रद्धाका चमत्कार

(लेखक—श्रीअमृतांशु देसाई)

[सत्य घटना]

जब कभी मुझे स्वर्गवासी रायबहादुर नागरजी (केन्द्रिय सरकारके अपने समयके एक बड़े अफसर) के यहाँ जानेका मौका मिलता था, तब उनके जीवनके अनेक अद्भुत अनुभव तथा उनके उत्तम और बुद्धिमय उपदेश तथा विचारोंकी परंपरा जाननेका अमूल्य अवसर प्राप्त होता था । ईश्वरकी दृढ़ भक्ति और विश्वास उनके जीवनका मुख्य ध्येय था ।

एक समय मैं उनके घर (जलालपुर, सूरत जिलेका एक गाँव) गया था । बातचीतके सिलसिलेमें उनके टेबलपर पड़ा हुआ एक लिफाफा मेरे देखनेमें आया । पत्र सुबहकी डाकसे आया था और वह उत्तरप्रदेशके अवसरप्राप्त सरकारी रसायन-अन्वेषक (Chemical Analyser) श्रीचटर्जी नामक एक बंगाली सज्जनका लिखा हुआ था । रायबहादुरने कहा कि 'पत्र पढ़ो और इससे क्या सूचित होता है उसका निर्देश करो ।' पढ़नेके बाद मैंने कहा, 'दादा ! यह आदमी आपको बड़े प्रेम और अनुभूतिके साथ पत्र लिखता है । मालूम पड़ता है कि आपने इसके लिये बड़ा काम किया था और यह आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता है और उसके बोझसे अपनेको सदा दबा पाता है । आप इसके लिये सदा स्मरणीय हैं ।' रायबहादुर सस्मित बोले, 'तुम्हारी कल्पना बिल्कुल ठीक है । चटर्जी साहब बड़े प्रेमी हैं और वे सदा ऐसी ही चिट्ठी लिखते हैं । वे समझते हैं कि मैंने उनको उपकृत किया है और पथ-प्रदर्शकका काम किया है । पर मैंने कुछ नहीं किया । करनेवाले भगवान् हैं । मनुष्य तो निमित्तमात्र है । आज-कल लोग श्रद्धा और भक्ति-जैसी शक्तिमयी साधन-सामग्रियोंको विश्वासकी दृष्टिसे नहीं देखते हैं और महान् साधकों और भक्तोंकी जीवनीको उपहासकी नजरसे देखते हैं, पर इस मनुष्यका इतिहास, श्रद्धा और प्रेम सदा सत्य और सनातन हैं तथा महान् कार्य करनेकी क्षमता रखते हैं उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । सुनो—

जब मैं १९१२—१९१६ में पूसा (जिला दरभंगा, बिहार) स्थित केन्द्रिय सरकारकी कृषिशालाके अध्यक्षका मुख्य सलाहकार (Personal assistant) था, तब वहाँकी रसायनशालाके अधिष्ठाता डाक्टर लेदर (Dr. Leather) की अधीनतामें एक चटर्जी नामक बंगाली सज्जन काम करते थे । लेदर साहब बड़े विद्वान् और कार्यदक्ष थे, पर स्वभावमें दुर्वासाके ही अवतार थे और उनका कोपभाजन बननेका अवसर सदा सभी कार्यकर्ताओंको प्राप्त होता था, पर उनमें मुख्य चटर्जी हीं होते थे । अनेक युक्तियाँ और परिश्रम करनेपर भी वे साहबको प्रसन्न नहीं कर सके और उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद यह वैर पूर्वजन्मसे चला आता हो । परिस्थिति सम्हलनेके कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते थे और ऐसी विकट हालतमें उनको ऐसा विश्वास हो गया कि पानीमें रहकर मगरसे वैर रखनेकी अपेक्षा छोड़कर चला जाना ही ठीक होगा और वे

इसके लिये अवसर ढूँढ़ने लगे। परिवार बड़ा था इसलिये जल्दी करना भी ठीक नहीं था। साहब तो कोई भी बहाना ढूंढ़कर उनको सतानेका अवसर नहीं चूकते थे और यही चाहते थे कि किसी तरह यह आदमी छोड़कर चला जाय तो अच्छा हो। थोड़े ही दिनोंमें यह समस्या स्वयं उपस्थित हो गयी।

संयोगसे चटर्जी महोदयके एकाकी पुत्रने टाइफायड-की कठिन बीमारी लेकर पिताकी समस्याको चरम सीमापर पहुँचा दिया। उसकी सेवा-शुश्रूषामें रत रहनेके कारण ऑफिस जानेमें बारंबार देर होती थी और वह अग्निमें घीकी आहुतिका काम करती थी। साहबकी नाराजगी बहुत बढ़ गयी और चटर्जी बारंबार तिरस्कृत और अपमानित होने लगे। भगवान् ही अब त्राण करें तो हो सकता है—ऐसा उनको पग-पगपर लगने लगा। एक दिन पुत्रकी अवस्था अपेक्षाकृत खराब थी और वे उत्कण्ठापूर्वक डाक्टरकी राह देखने लगे। ऑफिसका समय हो रहा था, पर एकाकी पुत्रको ऐसी दशामें छोड़कर जानेको उनका मन नहीं कर रहा था। डाक्टर आये और गये और जब वे दफ्तर पहुँचे, एक घंटा समय बीत गया था। आज जरूर कोई अनिष्ट होनेवाला है ऐसी आशङ्का उनके दिलमें होने लगी। दफ्तर पहुँचते ही उन्होंने देखा कि साहब अग्निशर्मा बनकर उनके टेबलके पास ही खड़े थे और उनको देखते ही व्याघ्र-गर्जना करते हुए बोले, 'मि० चटर्जी! नियम-भङ्ग और शिष्टपालनकी उपेक्षाके कारण मैं आपको थोड़े दिनोंके लिये नौकरीपरसे हटा रहा हूँ। आप हमेशा देर करते रहते हैं, पर आज तो आपने हद कर दी। यह किसी तरहसे बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। पढ़ा-लिखा आदमी इतना बेसमझ और मन्दबुद्धि हो सकता है, यह मुझे भारतहीमें देखनेको मिला।'

अपमानसे काँपते हुए चटर्जी बोले, 'साहब! मेरा कोई अपराध नहीं। आज पंद्रह दिनोंसे मेरा लड़का टाइफायडकी भयंकर बीमारीसे छटपटा रहा है। आज उसकी हालत गम्भीर है। सेवामें दूसरा कोई नहीं था। इसलिये अपनी अनिच्छा होते हुए भी डाक्टरके आनेकी राह देखकर मुझे बैठना पड़ा और इसी कारण देर हो गयी। डाक्टर आज कुछ देर करके आये। आप ही कहिये, ऐसी विषम परिस्थितिमें मेरे लिये और क्या चारा था। मेरे अपराधकी ओर नहीं, पर मेरे बच्चोंकी ओर देखिये और ऐसा कठोर दण्ड नहीं दीजिये। मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ।' वे आगे बोल न सके और उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

साहब ऐसा स्वर्ण-अवसर क्यों चूकने लगे 'खानगी कामके कारण सरकारी काम रुक नहीं सकता। मेरा निर्णय बदल नहीं सकता। खैर मनाओ कि मैंने तुम्हें नौकरीसे निकाल नहीं दिया। थोड़े महीनोंके लिये हटाये गये हो। भविष्यमें यदि ऐसा हुआ तो फिर नौकरी गयी समझो' कहते-कहते साहब वहाँसे चले गये। अपमान और भर्त्सनाने चटर्जीको बेहाल कर दिया। थोड़े समयके लिये पदच्युत (Suspend) होना यह लाञ्छनाका विषय है और सभी सरकारी कर्मचारी जानते हैं। यह तो जिंदगीभरके लिये धब्बा हो गया और ऐसी हालतमें त्यागपत्र देना ही ठीक होगा, यह निश्चित कर उन्होंने फौरन त्यागपत्र लिखकर दे दिया। साहब तो यही चाहते थे और उन्होंने तुरंत स्वीकार कर लिया।

जब मैंने अपने दफ्तरमें चटर्जीके इस दुस्साहसकी बात सुनी, तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कोई भी काम करनेके पूर्व मेरी सलाह लिया करते थे और मेरी रायके बिना कोई भी काम करना उचित नहीं समझते थे। ऐसा अविचारी काम उतावलीमें करनेके कारण मैंने उनको बुलवा भेजा। वे तो त्यागपत्र देकर स्वयं ही

मेरे आफिसमें आ रहे थे। मैंने उनको स्निग्ध स्वरमें उपालम्भ देते हुए कहा, 'यह क्या कर डाला ? अब क्या होगा तुम्हारा और परिवारका देवेन बाबू ! (चटर्जीका नाम) मेरी सलाहके बिना ऐसा करना उचित नहीं था।' वे लगे क्षमा माँगने और कहने लगे, 'दादा ! रोज-रोजके झगड़ेसे मैं ऊब गया था। बिना नौकरी बैठा रहना पड़े वह ठीक है मगर इस प्रकारके जीवनसे मैं छुटकारा पाना चाहता था। यह ब्रह्मपाश था। आज मैंने तोड़ डाला। यह सब इतनी जल्दी हो गया कि मैं आपसे पूछ भी न सका। दादा ! आपका स्नेहार्द्र स्वभाव मुझे क्षमा करेगा ही, यह मैं जानता हूँ। अब मैं मथुरा जाऊँगा। वहाँ मेरे एक दूरके सम्बन्धी हैं। उनके यहाँ रहूँगा और दूसरी नौकरी ढूँढ़नेकी चेष्टा करूँगा। मुझे वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण भगवान्में अपार श्रद्धा है। वे मुझे भूखों मरने नहीं देंगे।'

मैंने कहा, 'तुम्हें मेरा एक कहना मानना होगा।' वे बोले, 'दादा ! आपकी सौ बातें मैं माननेको तैयार हूँ। आपकी स्नेहमयी छत्रछायाके कारण ही मैं यहाँ प्रतिकूल स्थितिमें इतने दिनोंतक रह सका, अन्यथा कबका चला गया होता। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। कहिये।'

'तो आपको रोज मथुरा-निवासके समय श्रीद्वारकाधीशके मन्दिरमें जाना पड़ेगा। भगवान्की मूर्तिका भाव-निरीक्षण करना और जैसा हो वैसा मुझे लिखना आपका कर्तव्य रहेगा। उनकी भाव-भंगिमा ही भविष्यकी सूचना देगी। जाओ; परमात्मा सबका मालिक है। घबरानेकी कोई बात नहीं।' 'मैं तो स्वयं ही प्रतिदिन द्वारकाधीशका दर्शन करनेवाला था। यह आपका आदेश मैं अवश्य पालन करूँगा' यह कहकर सपरिवार चटर्जी मथुरा चले गये।

वहाँ पहुँचकर वे प्रतिदिन पत्र लिखने लगे। हरेक पत्रमें भगवान्की भाव-भंगिमाओंका वर्णन रहता। 'आज परमात्माकी मुखाकृति गम्भीर थी' 'आज मूर्ति उदास थी' 'आज मूर्ति खिन्न थी' और 'आज वह अन्यमनस्क थी !' इत्यादि। मैं उन्हें उत्साहित करता था कि 'जल्दी ही कोई चमत्कार होगा। घबरानेकी जरूरत नहीं। भगवान्में श्रद्धा अविचल रखिये।' एकाएक पंद्रहवें दिन पत्र आया, 'आज मूर्ति मेरी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकरा रही थी। मैं आत्मविभोर हो गया। कुछ क्षण मैं अवाक् खड़ा रहा।'

मैंने प्रत्युत्तर दिया, 'भगवान्ने भक्ति स्वीकार की है। एक हफ्तेमें तुम्हें नौकरी जरूर मिलेगी। द्वारकाधीश अब प्रसन्न हैं।' ठीक छठे दिन उनको उत्तरप्रदेशके रसायन-अन्वेषककी जगह मिल गयी जो चार सौ रुपयेसे प्रारम्भ होती थी ! चटर्जी विस्मय-मुग्ध हो गये। उन्हें सब स्वप्नवत् लगा। डेढ़ सौ रुपयेके पदपर रहकर जो साहबद्वारा बारंबार अपमानित होता था उसे एकदम चार सौकी नौकरी मिली ! यह चमत्कार नहीं तो और क्या था। करुणावरुणालय परमात्मा तो सदा भक्तवत्सल हैं ही, केवल दृढ़ विश्वास चाहिये। चटर्जीने मुझे लिखा, 'दादा ! यह सब आपका ही प्रताप है। भगवान् आपकी वजहसे मेरेपर प्रसन्न हैं। मैं तुच्छ प्राणी वृन्दावनविहारीके अनुग्रहका पात्र होने लायक नहीं हूँ। मेरी परमात्माके प्रति आस्था दृढ़तर हो गयी है। इस आशातीत सफलताके लिये मैं आपका सदैव अनुगृहीत रहूँगा।'

रायबहादुर कहने लगे कि इस घटनाके बाद चटर्जीकी मेरे प्रति ममता बढ़ गयी है। महीनेमें उनकी दो चिट्ठियाँ जरूर आती हैं। मैं जवाब दूँ या न दूँ ! किया तो परमात्माने परंतु चटर्जी श्रेय मुझे भी देते हैं। भगवान्ने निमित्त बनानेके लिये शायद मुझे प्रेरणा दी थी।

मैंने उत्तर दिया, 'करते तो भगवान् ही सब कुछ हैं, परंतु वे तो निष्काम ठहरे इसलिये किसीको निमित्त बनाते ही हैं। लोग निमित्तको ही कारण समझ बैठते हैं। रहीमने कहा भी है—

देनहार भगवान हैं, देते हैं दिन रैन।
लोग भरम मुझ पर धरैं, यातें नीचे नैन॥

भगवान्‌की लीला अपरम्पार है।

रायबहादुर स्निग्ध कण्ठसे बोले, 'श्रद्धाकी महिमा अपार है। आशाको श्रद्धा अमरत्व प्रदान कर भक्तिके आवरणसे ओतप्रोत करती है। यह आशा ही कलियुगमें भक्तिका वेष पहनकर श्रद्धारूपी पुष्पाञ्जलिसे परमात्माको प्रसन्न करनेकी कोशिशमें रहती है। शास्त्र भी कहते हैं—

'या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।'

देवी सर्वभूतोंमें श्रद्धारूपसे रहती है।

× × × ×

रायबहादुरका दीर्घायुके बाद थोड़े दिन हुए स्वर्गवास हो गया। श्रीदेवेन चटर्जी अभी जीवित हैं और हरि-भक्तिमें काल-यापन करते हैं।

धूम्रपानसे विवेकनाश—देशनाश

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

धूम्रपान भारतीय समाजकी अपनी चीज नहीं है, वह विदेशियोंकी नकल है। तम्बाकू अमेरिकासे भारतमें आयी और आज उसके लिये वह काल बन गयी है। भारतीय समाज अग्नि-पूजक समाज है। ब्रह्मचर्यावस्थामें हवनकी अग्नि, विवाहकी अग्नि और अन्तमें चिताकी अग्निके साथ हमारा जीवन संलग्न है। आज दुर्भाग्यसे हमारे यहाँ कुछ लोगोंने धूम्रपानकी अग्निको जगाना शुरू कर दिया है। पारसी तथा सिख भाई अग्निपूजक होनेके नाते धूम्रपानसे बहुत परहेज करते हैं। पर हम तो ब्रह्मज्ञानकी बातें करते-करते इतने उदार हो गये हैं कि धूम्रपानमें अग्निका अपमान होता है, इस बातको भी भूल गये हैं। रूसके संत-साहित्यकार महात्मा टालस्टाय महोदयने अपने एक निबन्धमें 'मनुष्य धूम्रपान क्योंकर करता है' इसकी चर्चा करते हुए लिखा कि 'जब मनुष्य विवेकके विरुद्ध आचरण करता है, तब उसका मन उसको खाने लगता है। विवेक उसमें उद्विग्नता पैदा करता है, एक बेचैनी पैदा करता है और उस बेचैनीसे बचनेके लिये मनुष्य मूर्खतावश धूम्रपान करता है। यह भी एक नशा है जो विवेकको खो देता है।' इसपर उन्होंने एक उदाहरण दिया है—

एक मनुष्य था, जो अपने शत्रुको मार डालनेके लिये पिस्तौल लेकर रात्रिके समय उसके पास पहुँचा। शत्रु सोया था। उसका वह निरपराध चेहरा देखकर इस मारनेवालेके मनमें विवेक पैदा हुआ कि इस 'निरपराध-को मैं क्योंकर मारूँ।' विचार करते-करते वह धीरे-धीरे वहाँसे हट आया। गैलरीमें खड़े हुए कुछ ही मिनटोंके बाद उसने सिगरेट निकाली, उसको सुलगाया और दो कश लगाये। इससे उसका विवेक नष्ट हो गया, वह चटसे भीतर गया और उस सोये हुए मनुष्यको उसने पिस्तौलसे मार दिया। उसको उस समय यह भान ही नहीं रहा कि वह सोया है, निरपराध है। इससे स्पष्ट होता है कि धूम्रपान विवेकको दबानेका काम करता है। आज यह धूम्रपान अपने बुलंदीपर है। बम्बई-जैसे ३६ लाखकी जन-संख्यावाले नगरमें १८ करोड़ रुपयोंकी बीड़ी-सिगरेट-सिगार लोग प्रतिवर्ष पीते हैं। बीड़ीवाले एक सेठने अपने बयानमें बताया है कि इन

पाँच वर्षोंमें बीड़ीका प्रचार पाँच गुना बढ़ गया है।

हमलोगोंने एक गाँवकी जाँच की तो मालूम हुआ कि साल भरमें जहाँ दो हजार रुपयेका कपड़ा खरीदा जाता है, वहाँ पान-बीड़ी-सिगरेट-तम्बाकू आदि ग्यारह हजार रुपयोंके खरीदे जाते हैं।

गुजरातके एक गाँवमें देखा, चार हजारकी आबादी है और ३२ बीड़ीकी दूकानें हैं। पिछले दस वर्ष पूर्व वहाँ एक भी क्षय रोगका बीमार नहीं था, पर जबसे बीड़ीका प्रचार बढ़ा, तबसे पिछले १० वर्षोंमें प्रतिवर्ष करीब २,२५ आदमी तपेदिकसे बीमार पड़ते हैं और उनमें औसतन दस आदमी इस रोगसे मर जाते हैं।

भारत सरकारकी स्वास्थ्य-मन्त्रिणी महोदयाने कहा कि जो आँकड़े मिले हैं उससे मालूम होता है कि भारतमें २५ लाख क्षयरोगी हैं। पर वस्तुतः इनकी संख्या इससे भी अधिक है। हम समझते हैं कि वह ३६ लाखके करीब अर्थात् प्रति सौ मनुष्योंमें एक मनुष्य क्षय रोगका शिकार बना हुआ है। इस रोगके अनेक कारणोंमें गुजरातके गाँवके अनुभवसे धूम्रपान भी एक बड़ा कारण हो सकता है। आज धूम्रपानका बोलबाला है। सरकार उसका बड़ा लिहाज करती है। इसीसे उसपर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

दिन हो चाहे रात, बाजार हो या हाट, श्मशान हो या घाट, स्त्री हो या बच्चे सभी जगह इसका प्रवेश है। जब चाहे, जहाँ चाहे, जैसे चाहे धूम्रपान-प्रचारक जा सकते हैं, लाउडस्पीकर नाच आदि द्वारा प्रचार कर सकते हैं। पर हमारा स्वास्थ्य-विभाग या सरकार कुछ बोलने तथा रोक-टोक करनेका साहस नहीं कर सकती है। लाड़ला महकमा है यह कुछ बड़े-बड़े लोगोंका, तभी तो इसे इतनी खुली छूट—रियायत दी जा रही है। दो-दो सालके बच्चोंको हम बीड़ी पीते हुए और घर-घर तपेदिक भी खैरात करते हुए देख रहे हैं। इससे सहज मनमें आता है कि यह युग धूम्रपानका है। वह राजा है और उसके सामने बलशाली सरकार भी नतमस्तक है। इधर यह हालत है और उधर यही स्वास्थ्य-विभाग तपेदिकके एक-एक आनेके सील प्रतिवर्ष बेचकर तपेदिक—क्षयरोगको रोकनेका प्रयत्न करती है। पहले आग लगायी जाती है और बादको दौड़कर पानी डालकर उसको रोकनेका प्रयत्न किया जाता है। कितना परिहास है हमारे स्वास्थ्यका।

जब मैंने लोकसभाके कुछ सदस्योंसे इसके बारेमें प्रश्न उठानेके लिये कहा तो उन्होंने अपनी लाचारी जाहिर की। वे प्रश्न उठावेंगे या नहीं, इसे तो भगवान् जाने। पर मैं उसको जनता-जनार्दनके दरबारमें उठाना चाहता हूँ और अपने इष्ट-देवतासे हाथ जोड़कर पूछना चाहता हूँ कि धूम्रपानद्वारा भारतीय अपने राष्ट्रका मुँह जलाकर ही रहेगा या उससे उसको कभी छुटकारा भी मिलेगा।

हमारे देशमें मुँहमें आग लगानेका काम मरनेके बाद श्मशानमें पुत्र करता है। वह अग्नि लेकर चलता है सबके साथ और चिताकी तैयारी पूर्ण हो जानेपर अपने पिताके मुँहपर अग्नि रखता है, पर इस वैज्ञानिक युगमें—बीसवीं शताब्दीमें ये धूम्रपानवाले पुत्रका काम स्वयं कर जीते-जी अपने मुँहमें अग्नि लगाकर पिता तथा पुत्र दोनों बन जानेका काम करते हैं। यह है इस समयकी विशेषता। भगवान् इस जीवित शवको बुद्धि दें कि वह एक ही साथ एक ही समय पिता-पुत्र न बनकर भारतीय समाजको अपमानित न करे।

आज धूम्रपान विवेकका क्षय ही नहीं कर रहा है बल्कि शरीर क्षयकर भारतीय राष्ट्रको यह सोचनेके लिये विवश कर रहा है कि यदि उसे जिंदा रहना है, तो मुझसे बचो, नहीं तो, तुम्हारी इच्छा!

गोहत्याका महापाप शीघ्र मिटनेकी आशा

उत्तरप्रदेश सरकारका सम्पूर्ण गोवध-बंदीका पवित्र निर्णय

'कल्याण' में कई बार लिखा जा चुका है कि ऋषि-भूमि भारतवर्षमें जबतक गोवधका कलङ्क वर्तमान है, तबतक भारतवासी कभी सुखी नहीं हो सकते। भारतका आत्मा इसको कभी सह नहीं सकता। इसीसे लगातार गोहत्या-बंदीके लिये विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियोंके द्वारा विविध रूपोंमें प्रयत्न और आन्दोलन चल रहे हैं। अब भगवत्-कृपासे कुछ ऐसा ढंग दीख रहा है कि भारत इस भयानक पापसे मुक्त हो जायगा। उत्तरप्रदेश सरकारने पशु-सम्पत्तिकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये एक गो-संवर्धन समिति बनायी थी। इस समितिमें हिंदू, मुसल्मान, ईसाई—सब मिलकर २१ सदस्य थे। समितिने सर्वसम्मतिसे सम्पूर्ण गोवध-बंद करनेके लिये उत्तरप्रदेश सरकारसे बड़े जोरदार शब्दोंमें शिफारिस की थी। 'कल्याण' के पाठकोंको यह जानकर बहुत आनन्द होगा कि उत्तरप्रदेश सरकारने उस शिफारिसको मान लिया है और विधानसभामें शीघ्र ही सम्पूर्ण गोवध-बंदीके लिये विधेयक लाया जायगा। उत्तरप्रदेशके राज्यपाल माननीय श्रीमुंशीजीने गत १० फरवरीको विधानसभामें इसकी घोषणा कर दी है। इस सत्कार्यके लिये भारतवर्ष सम्मान्य डा० सीतारामजी तथा समितिके अन्यान्य सभी सदस्योंका सदा कृतज्ञ रहेगा। हम उन्हें हृदयसे धन्यवाद करते हैं। गो-माताकी हत्या सम्पूर्णतया बंद करनेकी शिफारिस करके उन्होंने महान् पुण्य किया है। साथ ही माननीय पण्डित श्रीगोविन्दवल्लभजी पंतके प्रति भी हम हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम इसे उन्हींकी सद्भावनाका फल मानते हैं। अपने मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्दजीके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं और हृदयसे उनका अभिनन्दन करते हैं। उन्होंने मुख्य मन्त्रीका कार्यभार ग्रहण करते ही जो महान् पुण्य कार्य सम्पादन किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा और महान् शुभ फलदायक होगा। हमारे राज्यपाल महोदयने पुण्य घोषणा करके करोड़ों संतप्त हृदयोंको जो अपार शान्ति दी है, उसके लिये किन शब्दोंमें उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाय। अब तो यही निवेदन है कि शीघ्र-से-शीघ्र संपूर्ण गोवध-बंदीका कानून बन जाय।

माननीय पंतजीसे हमारा निवेदन है कि वे केन्द्रमें ऐसा कानून बनवानेका प्रयत्न कर महान् पुण्य संचय करें।

पंजाब सरकार भी गो-वध सम्पूर्णतया बंद करने जा रही है। गुड़गाँवके हजारों मेवोंने गोवध न करनेकी प्रतिज्ञा की है, यह भी बड़े आनन्दका विषय है। अजमेर सरकारने गोवध बंद कर ही दिया था। उसे भी धन्यवाद।

बिहार सरकारको भी अब शीघ्र सम्पूर्ण गोवध-बंदीका कानून बनाकर कलङ्कको धो डालना चाहिये। बिहारमें तो वर्षोंसे कानून बनानेकी बात चल रही है। अब विलम्ब नहीं करना चाहिये।

अन्यान्य प्रदेशोंको भी, जहाँ गोवध होता हो, तुरंत बंद कर देना चाहिये। बंबई तथा कलकत्तेमें बड़ा पाप होता है। वहाँ तो दूध देनेवाली जवान गायोंकी प्रतिदिन नृशंस हत्या होती है। संत विनोबाजीने कलकत्तेके गो-हत्या-काण्डपर जो खेद प्रकट किया है और गोहत्या बंद करनेके लिये प्रेरणा दी है, वह इसी अङ्कमें अन्यत्र प्रकाशित है। बंबई तथा कलकत्ता सरकारको शीघ्र इस ओर ध्यान देकर देशको इस महापापसे मुक्त करना चाहिये।

समाचार

हिंदू-विवाह-महोत्सव

[कुछ ही दिनों पूर्व राष्ट्रपति डा० श्रीराजेन्द्रप्रसादजीकी पौत्रीका विवाह नयी दिल्लीमें हुआ था। उस अवसरपर श्रीराष्ट्रपतिजीके द्वारा समागत सज्जनोंमें यह पत्रिका छपवाकर वितरण की गयी थी। राष्ट्रपतिजीके हिंदू-विवाहके सम्बन्धमें कितने सुन्दर विचार हैं, इसका पता इससे लगता है।]

हिंदुओंका विवाह एक धार्मिक संस्कार है। आध्यात्मिक विकास, पारस्परिक प्रेम एवं साहचर्य तथा भगवान् एवं मानव-जातिकी सेवाके उद्देश्यसे होनेवाले स्त्री एवं पुरुषके गँठबन्धनकी भावना ही इस संस्कारकी भित्ति है। अतः इस संस्कारमें वर-कन्या अपने-अपने परिवारके तथा विश्वब्रह्माण्डके आध्यात्मिक एवं भौतिक कल्याणकी दृष्टिसे साथ रहने तथा मिलकर काम करनेकी जो प्रतिज्ञा करते हैं, उसके साक्षिरूपमें देवताओंके आवाहनके साथ ही इस संस्कारकी सारी विधियाँ पूरी की जाती हैं।

विवाह-संस्कारके तीन अङ्ग हैं। प्रथम अङ्गमें देवताओंका आवाहन किया जाता है, वरका स्वागत-सत्कार होता है तथा बड़े-बूढ़े लोग उन्हें आशीर्वाद देते हैं एवं अपनी शुभ भावनाएँ समर्पित करते हैं।

दूसरी भूमिकामें कन्याके माता-पिता वरके हाथमें कन्याका हाथ पकड़ाकर पवित्रभावसे उसे वरको समर्पण करते हैं। कन्याका भाई भी इस वैवाहिक बन्धनके प्रति अपनी सम्मति तथा अनुमोदन प्रकट करनेके लिये धानके लावोंकी वर्षा (लाजाहोम) करता है।

इसके अनन्तर विवाहके साक्षिरूपमें हवनकी अग्निकी प्रदक्षिणा करते हुए वर-वधू साथ-साथ सात पग चलते हैं। प्रत्येक पगपर वर-वधू दोनों यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हमलोगोंके हृदय, मन, आत्मा एवं क्रियामें सुन्दर-से-सुन्दर एवं अत्यन्त ही श्रद्धा एवं विश्वासका सम्बन्ध बना रहेगा। सप्तपदीके अन्तमें संस्कार पूर्ण हो जाता है। तब वर-वधू आकाशस्थित ध्रुवतारेकी ओर दृष्टिपात करते हैं और आजीवन स्थिर एवं अचल सौहार्द एवं साहचर्यका व्रत लेते हैं।

विवाह-संस्कारकी तृतीय भूमिकामें देवताओंका पुनः आवाहन किया जाता है। गुरुजन, सुहृद्वर्ग एवं हितैषियोंका सारा समुदाय, जो उक्त विवाह-बन्धनका साक्षी होता है, विदाईके पूर्व वर-वधूको आशीर्वाद देता है।

ये सारी-की-सारी विधियाँ वैदिक मन्त्रों एवं गृह्यसूत्रोंमें वर्णित वैदिक कर्मकाण्डके अनुसार ही सम्पन्न होती हैं।

गोवंशकी रक्षा किसी मूल्यपर भी होनी चाहिये

[पिछले दिनों मेदिनीपुरमें संत विनोबाजी भावेने एक सार्वजनिक सभामें जो भाषण दिया था, उसका सारांश]

आज गायोंकी दुर्दशा देखकर हृदय विदीर्ण हो रहा है।×××जबतक गोहत्या बंद नहीं होगी, तबतक देशकी दरिद्रताका अन्त हो नहीं सकता।

×××कलकत्ता क्या बंगाल भरमें गायें बहुत कम दूध देती हैं। यदि सच पूछा जाय तो देशभरकी अच्छी-से-अच्छी जातिकी गायें कलकत्ते पहुँचती हैं और थोड़े दिनतक दूध देनेके बाद कसाइयोंके हाथों बलिदान हो जाती हैं। मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि इन बेजुबान गायोंकी हत्या वहाँ रोजाना होती है, परंतु हत्याबंदीके लिये कोई भी कदम नहीं उठाया जा रहा है।

गोहत्या-बंदी-आन्दोलनकी ओटमें कोई राजनीतिक दल काम कर रहा है। ऐसा हो भी। परंतु गोवंश-रक्षाकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लिये हुए आप क्या करते हैं, क्या इसका भी ध्यान कभी होता है ?

यदि गोहत्या-आन्दोलनके पीछे कोई राजनीतिक व्यूह-रचना हो तो उसे दूर हो जाना चाहिये। परंतु गोवंशकी रक्षा तो हर हालतमें होनी चाहिये। अमृत-मय दूध देनेवाली सैकड़ों गायोंके गलोंपर रोजाना छुरियाँ चलती हैं। परंतु कलकत्तेवाले इसपर तनिक भी तरस नहीं खाते हैं ? इससे बढ़कर अन्याय क्या हो सकता है।

अन्तमें आचार्य भावेने कहा कि 'भारत एक कृषि-प्रधान देश है। ऐसे देशमें गोवंशकी रक्षा किसी भी मूल्यपर होनी चाहिये। कलकत्तेमें जो कुछ हो रहा है, वह इतना कारुणिक है, जिसे कोई भी उत्तरदायी मनुष्य या सरकार सहन नहीं कर सकती। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि वहाँके लोग किस तरह इस हृदय-विदारक दृश्यको देख रहे हैं।'

स्वातन्त्र्य और स्वाधीनताका अर्थ है आत्मनियन्त्रण

[पटनाकी सभामें आचार्य दादा धर्माधिकारीका भाषण]

सर्वोदयके नेता आचार्य श्रीदादा धर्माधिकारीने पटना गरदनी-बागस्थित, गेट पब्लिक लाइब्रेरी व इन्स्टीच्यूटमें आयोजित सभाको सम्बोधित करते हुए कहा कि 'सर्वोदय मानवके यथार्थ स्वभाव प्रेमपर आधारित निर्देशात्मक और विस्तृत दर्शन है।×××मानवीय व्यवहारोंके प्रति यह एक भावात्मक कदम है। मानवीय प्रेम ही, जो उसके व्यवहारका स्वभाव है, जब दुर्वृत्तियोंका विरोध करता है, तो वह सत्याग्रहका रूप धारण करता है।

उन्होंने यह बताया कि सर्वोदयको बाह्य नीति-दर्शनके रूपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, बल्कि मानवीय विचार-श्रृङ्खलाकी विभिन्न कड़ियोंका समन्वय-कारी तत्त्व यह है और यही होनेमें उसकी सफलता और उसकी यथार्थता भी है।

हमारे समाजमें इस समय संघटनके दो पहलू हैं, एक प्रशासनीय और दूसरा सैन्य। प्रशासनीय संघटनका पहलू ही नागरिकतासे सम्बन्ध रखनेवाला है। तब सैन्य-संघटनकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी, जब जीवनका यह सर्वोदय-दर्शन अपना व्याव-हारिक रूप प्रकट करेगा। पाश्चात्त्य देशोंमें 'लिबर्टी' या 'फ्रीडम' के जो अर्थ हैं, वे हमारे 'स्वातन्त्र्य' या 'स्वाधीनता' के समान बोधक नहीं हैं। लिबर्टी और फ्रीडमका अर्थ जहाँ बन्धनमुक्तिसे है, वहाँ स्वातन्त्र्य और स्वाधीनताका अर्थ है—आत्माका नियन्त्रण; आत्मापर अपने-आपका अधिकार।

विश्वविद्यालयकी छात्राओंको उपदेश

[लखनऊ विश्वविद्यालयके उपकुलपति डा० श्रीराधाकमल मुखर्जी महोदयने विश्वविद्यालयके 'कैलास छात्रा-निवास'की छात्राओंसे उस दिन कहा कि—]

....'देशके वर्तमान सामाजिक परिवर्तनके युगमें हमारी छात्राओंके सामने एक ऐसा भीषण संघर्ष उपस्थित है जो छात्रोंके सामने उतने विकट रूपमें नहीं है। परिवारके वातावरणमें सिद्धान्तों एवं आदर्शोंकी जो धारा उन्हें प्राप्त होती है, उससे बिल्कुल विरोधी धारा उन्हें विश्वविद्यालयकी सीमामें मिलती है। हमारी शिक्षित बालिकाओं एवं महिलाओंके जीवनमें जो असामञ्जस्य एवं विविध प्रकारकी स्नायविक विकृतियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण यह संघर्ष ही है।

……इस युगकी महिलाओंके लिये घरमें उपयोगी काम-धंधेका क्षेत्र संकीर्ण होता जा रहा है और उसके फलस्वरूप उनमें इन दिनों आरामतलबी तथा निठल्लापन अधिक आ गया है। जिससे वे समाजकी दृष्टिमें अधिक उपयोगी होनेके बदले प्रत्यक्ष ही अकर्मण्य एवं क्षयग्रस्त हो गयी हैं। दूसरी ओर, गृहस्थोचित धार्मिक क्रिया-कलाप, कथा-वार्ताका अभाव तथा व्रतों एवं त्यौहारोंकी शृङ्खला विच्छिन्न हो जानेसे उनके अंदरकी वह निःस्वार्थ भक्ति, वह आत्मसंयम एवं उत्सर्गकी वे प्राचीन भावनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिनके आधारपर भारतीय नारीत्वका निर्माण हुआ था।

बाजारू कहानियों, उपन्यास तथा सस्ते चल-चित्रों एवं चलते नाटकोंके द्वारा भी प्रेमके वास्तविक स्वरूपको विकृत किया जा रहा है तथा यौन-सम्बन्धकी प्रच्छन्नता एवं पवित्रता नष्ट हो रही है। दाम्पत्यके धार्मिक बन्धनसे जीवनमें रसका स्रोत बहता था; यही भारतीय ऋषियोंके ज्ञानका निदर्शन था। परंतु यूरोप एवं अमेरिकामें पारिवारिक जीवनका जो विघटनात्मक स्वरूप देखनेमें आता है, उसने कामके एक ऐसे कृत्रिम, अस्वाभाविक एवं स्वप्निल आदर्शकी सृष्टि की है, जिससे अत्यन्त प्राचीन भारतीय परम्परा एवं अनुभूति संकटापन्न हो गयी है।

अन्तमें मुखर्जी महोदयने कहा कि 'विश्वविद्यालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ जीवनके उच्च आदर्शोंका स्वीकार और पोषण किया जाता है। आधुनिक महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली कन्याओंके लिये यह आवश्यक है कि वे सिद्धान्तगत इन संघर्षोंको अपनी भारतीय शैलीसे दूर करें तथा अर्वाचीन सामाजिक ढाँचेमें प्राचीन एवं अर्वाचीन आदर्शोंके समन्वयसे अपने लिये जीवन-सरणियोंका निर्माण करें। गृह, विवाह एवं परिवारके विभिन्न आदर्शोंके सामञ्जस्य एवं समन्वयसे ही ठोस व्यक्तित्वकी सृष्टि हो सकती है और उसीसे हमारे महिला-समाजके भारतीय गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-शान्तिकी रक्षा सम्भव है।

राम फगुआ

(रचयिता—महात्मा श्रीजयगौरीशंकर सीतारामजी महाराज)

छोड़ो फागुनकी गारी, ललन अब ॥ टेक ॥
गारीके बदला हरि गुण गाओ, चहुँदिशि मंगलकारी ॥ ललन अब ॥ १ ॥
गरिया गवले बैकुंठ न मिलिहैं, होइहैं पपवा भारी ॥ ललन अब ॥ २ ॥
अधम गवाँर सब गरिया गावत, नाहक धर्म बिगारी ॥ ललन अब ॥ ३ ॥
गारीकी चाल भाई बहुत बुरी है, मनमें देखो विचारी ॥ ललन अब ॥ ४ ॥
गरिया गावत लाजो न लागत, सुनत बहिन महतारी ॥ ललन अब ॥ ५ ॥
भक्त प्रहलाद अस गाओ गवाओ, मिलिहैं अवधविहारी ॥ ललन अब ॥ ६ ॥
कवलवास मत गरिया गाओ, राम भजो सुखकारी ॥ ललन अब ॥ ७ ॥

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१–श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी–'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिंदी-टीकाका संशोधित संस्करण; टीकाकार–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ... ४)
२–श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य ... २।।)
३–श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द मूल्य ... २।।)
४–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, रंगीन चित्र ४, मू० १।)
५–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (सटीक) मोटे अक्षरोंमें, ढंग लाहोरी, पृ० ४२४, मूल्य।।।=), सजिल्द१।)
६–श्रीमद्भगवद्गीता–[मझली] पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अजिल्द ।।≥), सजिल्द ... १)
७–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजि० ।।।=)
८–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।–), सजिल्द ... ।।–)
९–श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, चित्र १, पृष्ठ १९२, मूल्य ... ... ।)
१०–श्रीपञ्चरत्न-गीता–सचित्र, श्रीगीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्र-मोक्ष, पृष्ठ १८४, मू० ≥)
११–श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)।।, सजिल्द ... ।)।।
१२–श्रीमद्भगवद्गीता–ताबीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य ... ... =)
१३–श्रीमद्भगवद्गीता–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य ... ... –)।।
१४–ईशादि नौ उपनिषद्–अन्वय, हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४४८, सजिल्द, मूल्य ... ... २)
१५–ईशावास्योपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ... ... ≥)
१६–केनोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ... ... ।।)
१७–कठोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ... ... ।।–)
१८–प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ... ... ।≥)
१९–मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य ... ... ।≥)
२०–उपनिषद्-भाष्य खण्ड १–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य ... ... २।।=)
२१–माण्डूक्योपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य ... ... १)
२२–ऐतरेयोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य ... ... ।=)
२३–तैत्तिरीयोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ... ... ।।।–)
२४–उपनिषद्-भाष्य खण्ड २–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य ... ... २।।≥)
२५–छान्दोग्योपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रंगीन चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द, मूल्य ... ३।।)
२६–श्वेताश्वतरोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य ... ... ।।।=)
२७–ईशावास्योपनिषद्–अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य ... ... –)
२८–वेदान्तदर्शन–हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ... ... २)
२९–पातञ्जलयोगदर्शन–सटीक, व्याख्याकार–श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १९२, दो चित्र, मूल्य ।।।), स० १)
३०–लघुसिद्धान्तकौमुदी–सटिप्पण—संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये विशेष उपयोगी, पृष्ठ ३६८, मूल्य ... ।।।)
३१–श्रीमद्भागवतमहापुराण–(दो खण्डोंमें) हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २६, स० मू० ... १५)
३२–श्रीभागवत-सुधासागर–सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २६, सजि० मूल्य ... ८।।)
३३–श्रीमद्भागवतमहापुराण–मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ... ६)
३४–श्रीमद्भागवतमहापुराण–मूल गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ... ३)
३५–श्रीप्रेम-सुधा-सागर–श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र १५, सजि० मू० ... ३।।)
३६–श्रीभागवतामृत–सटीक, पृष्ठ ३०४, रंगीन चित्र ८, सजिल्द, मूल्य ... ... १।।।)
३७–श्रीविष्णुपुराण–सानुवाद, चित्र ८, पृष्ठ ६२४, सजिल्द, मूल्य ... ... ४)
३८–अध्यात्मरामायण–हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ... ३)

*

३९-श्रीरामचरितमानस-सटीक, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ... ७।।)
४०-श्रीरामचरितमानस-मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य ... ... ४)
४१-श्रीरामचरितमानस-सटीक [मझला साइज] रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, स० मूल्य ... ३।।)
४२-श्रीरामचरितमानस-मूल, पाठभेदसहित, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ ७९६, मूल्य ... ३।।)
४३-श्रीरामचरितमानस-मूल, मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य ... ... २)
४४-श्रीरामचरितमानस-मूल, गुटका, पृष्ठ६८८, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ।।।)
४५-बालकाण्ड-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ।।=)
४६- ,, -सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य ... १=)
४७-अयोध्याकाण्ड-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मू० ।।)
४८- ,, -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ।।।-)
४९-अरण्यकाण्ड-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ... ≤)
५०- ,, -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ... ।)
५१-किष्किन्धाकाण्ड-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य ... =)
५२- ,, -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य ... =)
५३-सुन्दरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ३८, मूल्य ... ≤)
५४- -सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ... ।)
५५-लंकाकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ।)
५६- ,, -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ।।)
५७-उत्तरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ।)
५८- ,, -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ... ।।)
५९-मानस-रहस्य-सचित्र, पृष्ठ ५१२, मू० १), स० १।।=)
६०-मानस-शंका-समाधान-पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ।।)
६१-विनय-पत्रिका-सटीक, पृष्ठ ४७२, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द ... ... १।=)
६२-गीतावली-सटीक, पृष्ठ ४४४, मू० १), स० १।=)
६३-कवितावली-सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४, मू० ।।-)
६४-दोहावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ।।)
६५-ईश्वरकी सत्ता और महत्ता-पृष्ठ ४८०, मूल्य १।), सजिल्द ... ... १।।=)
६६-शरणागति-रहस्य-पृष्ठ ३६०, सचित्र, मूल्य ।।।=)
६७-प्रेम-योग-पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य ... १।।)
६८-श्रीतुकाराम-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य १।=), सजिल्द ... ... १।।।)
६९-विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य-पृष्ठ २८०, सचित्र, मूल्य ... ... ।।।=)
७०-दुर्गासप्तशती-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ।।।), सजिल्द ... ... १)

७१-दुर्गासप्तशती-मूल, सचित्र, पृष्ठ १५२, मू० ।।), स० ।।।)
७२-स्वर्ण-पथ-सुन्दर टाइटल, पृष्ठ २१६, मूल्य ।।।)
७३-सत्सङ्गके बिखरे मोती-पृष्ठ २४४, मूल्य ।।।)
७४-तत्त्व-चिन्तामणि-ले०-श्रीजयदयाल गोयन्दका (भाग १) सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य।।=), सजि० १)
७५-(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य।।।=), सजि० १।)
७६-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४२४, मू० ।।≡), सजि० १-)
७७-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ५२८, मू०।।।-), सजि० १≡)
७८-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४९६, मू० ।।।-) सजि० १≡)
७९-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४५६, मू० १), सजिल्द १।=)
८०-(भाग ७) सचित्र, पृष्ठ ५३०, मू० १=) सजि० १।।)
८१-छोटे आकारका गुटका संस्करण- (भाग १) सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य ।-), स० ।।)
८२-(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ७५२, मू० ।=), स० ।।-)
८३-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ५६०, मू० ।-), स० ।।)
८४-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मू० ।=), स० ।।=)
८५-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ६२१, मू० ।=), स० ।।-)
८६-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली- (खण्ड १) पृष्ठ २८८, मूल्य ।।।=), सजि० १।)
८७-(खण्ड २) पृष्ठ ३६८, मूल्य १=), सजि० १।।)
८८-(खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, मूल्य १), सजि० १।=)
८९-(खण्ड ४) पृष्ठ २२४, मूल्य ।।=), सजि० १)
९०-(खण्ड ५) पृष्ठ २८०, मूल्य ।।।), सजि० १=)
९१-(संत-वाणी) ढाई हजार अनमोल बोल-पृष्ठ ३२४, सचित्र, मू० ।।=), सजिल्द ... ।।।=)
९२-सूक्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ।।=), सजिल्द ... १)
९३-विदुरनीति-सटीक, पृष्ठ १६८, मूल्य ... ।।-)
९४-स्तोत्ररत्नावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०, मूल्य ।।), सजिल्द ... ... ।।।=)
९५-सत्सङ्ग-सुधा-पृष्ठ २२४, मूल्य ... ।।)
९६-सती द्रौपदी-चित्र रंगीन ४, पृष्ठ १६४, मू० ।।)
९७-सुखी जीवन-लेखिका-श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, ।।)
९८-भगवच्चर्चा-लेखक-श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, (भाग १) (तुलसीदल) सचित्र, पृष्ठ २८८, मूल्य ।।), सजिल्द ... ।।।=)
९९-(भाग २) (नैवेद्य) सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ।।), सजिल्द ... ।।।=)
१००-(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४०८, मू० ।।।) सजि० १=)
१०१-(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ४३६, मू० ।।।-), स० १≡)
१०२-(भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ।।।), सजि० १=)
१०३-(भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४००, मू० ।।।), स० १=)

१०४–नित्यकर्मप्रयोग–पृष्ठ १३६, मूल्य ··· ।≈)

१०५–जीवनका कर्तव्य–पृष्ठ २००, मूल्य ··· ।≈)

१०६–भक्त-भारती–[कविताकी पुस्तक] पृष्ठ-संख्या १२०, ४ तिरंगे, ३ सादे चित्र, मूल्य ··· ।≈)

१०७–रामायणके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १६८, मू० ।=)

१०८–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृष्ठ८८, सचित्र, मूल्य ।=)

१०९–लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र] (प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ··· ।=)

११०–(द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ··· ।=)

१११–(तृतीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २९२, मूल्य ··· ॥)

११२–(चतुर्थ भाग)—पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य ··· ॥)

११३–(पञ्चम भाग)—पृष्ठ-संख्या २८०, मूल्य ··· ॥)

११४–पढ़ो, समझो और करो–पृष्ठ १४८, मूल्य ··· ।=)

११५–बड़ोंके जीवनसे शिक्षा–पृष्ठ ११२, मूल्य ।=)

११६–रामायण-प्रथमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक–पृष्ठ १५६, मूल्य ··· ··· ।=)

११७–भक्त नरसिंह मेहता–सचित्र, पृष्ठ १६०, मू० ।=)

११८–नारी-शिक्षा–पृष्ठ १६८, मूल्य ··· ।=)

११९–स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा–चित्र रंगीन २, सादा ८, पृष्ठ १७६, मूल्य ··· ।=)

१२०–पिताकी सीख–पृष्ठ १५२, मूल्य ··· ।=)

१२१–तत्त्व-विचार–पृष्ठ २०८, सचित्र, मूल्य ··· ।=)

१२२–चोखी कहानियाँ–३२ कहानियाँ, पृष्ठ ५२, मूल्य ।-)

१२३–उपयोगी कहानियाँ–३५ कहानियाँ पृ० १०४ मू० ।-)

१२४–प्रेम-दर्शन–सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ··· ।-)

१२५–विवेक-चूडामणि–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, ।-)

१२६–भवरोगकी रामबाण दवा–पृष्ठ १७२, मूल्य ।-)

१२७–भक्त बालक–५ कथाएँ, पृष्ठ ७२, सचित्र, मू० ।-)

१२८–भक्त नारी–पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मू० ।-)

१२९–भक्त-पञ्चरत्न–पाँच कथाएँ, पृष्ठ८८, २ चित्र, मू० ।-)

१३०–आदर्श भक्त–७ कथाएँ, पृष्ठ ९८, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ··· ··· ।-)

१३१–भक्त-सप्तरत्न–पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ··· ।-)

१३२–भक्त-चन्द्रिका–६ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मू० ।-)

१३३–भक्त-कुसुम–६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, सचित्र, मू० ।-)

१३४–प्रेमी भक्त–५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।-)

१३५–प्राचीन भक्त–१५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र ४, मू० ॥)

१३६–भक्त-सरोज–१० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मू० ।=)

१३७–भक्त-सुमन–१० कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य ··· ··· ।=)

१३८–भक्त-सौरभ–५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, सचित्र, मू० ।-)

१३९–भक्त सुधाकर–१२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ··· ··· ॥)

१४०–भक्त-महिलारत्न–९ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मू० ।≈)

१४१–भक्त-दिवाकर–८ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मू० ।≈)

१४२–भक्त-रत्नाकर–१४ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मू० ।≈)

१४३–भक्तराज हनुमान्–पृष्ठ ७२, चित्र रंगीन १, ४ सादे, मूल्य ··· ··· ।-)

१४४–सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र–पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य ··· ··· ।-)

१४५–प्रेमी भक्त उद्धव–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य ··· ≈)

१४६–महात्मा विदुर–पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य ··· =)॥

१४७–भक्तराज ध्रुव–पृष्ठ ४८, २ चित्र, मूल्य ··· ≈)

१४८–शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ–पृष्ठ १२८, मूल्य ।)

१४९–सती सुकला–पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य ··· ।)

१५०–परमार्थ-पत्रावली–(भाग १) पृष्ठ ११२, सचित्र, मू० ।)

१५१– ,, –(भाग २) पृष्ठ १७२, सचित्र, मू० ।)

१५२– ,, –(भाग ३) पृष्ठ २००, सचित्र, मू० ॥)

१५३– ,, –(भाग ४) पृष्ठ २१४, सचित्र, मू० ॥)

१५४–कल्याण-कुञ्ज–(भाग १) पृष्ठ १३६, सचित्र, मू० ।)

१५५– ,, –(भाग २) पृष्ठ १६०, सचित्र, मू० ।-)

१५६– ,, –(भाग ३) पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ।=)

१५७–महाभारतके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १२८, मू० ।)

१५८–भगवान्पर विश्वास–पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।)

१५९–बाल-चित्रमय-रामायण–(भाग १) ४९ चित्र, मू० ।)

१६०– ,, ,, (भाग २) पृष्ठ १६, मू० ।)

१६१–बाल-चित्रमय-चैतन्यलीला–पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१६२–बाल-चित्रमय-बुद्धलीला–पृष्ठ ३६, मूल्य ।-)

१६३–भगवान राम भाग १–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१६४– ,, ,, भाग २–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)

१६५–भगवान श्रीकृष्ण भाग १–पृष्ठ ६८, मूल्य ।-)

१६६– ,, ,, भाग २–पृष्ठ ६४, मूल्य ।-)

१६७–आरती-संग्रह–पृष्ठ ८०, मूल्य ··· ।)

१६८–सत्सङ्ग-माला–पृष्ठ १००, मूल्य ··· ।)

१६९–बालकोंकी बातें–पृष्ठ १५२, मूल्य ··· ।)

१७०–वीर बालक–पृष्ठ ८८, मूल्य ··· ।)

१७१–गुरु और माता-पिताके भक्त बालक–पृष्ठ ८०, मूल्य ··· ··· ··· ।)

१७२–वीर बालिकाएँ–पृष्ठ ६८, मूल्य ··· ≈)

१७३–दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ
पृष्ठ ६८, मूल्य ... ... ≡)
१७४–हिंदी बाल-पोथी–शिशु-पाठ (भाग १)
पृष्ठ ४०, मूल्य ... ≡)
१७५– ,, –शिशुपाठ (भाग २) पृष्ठ४०,मू० ≡)
१७६– ,, –पहली पोथी (कक्षा १ के लिये) मू० ।–)
१७७– ,, –दूसरी पोथी (कक्षा २के लिये) मू० ।=)
१७८–प्रार्थना–पृष्ठ ५६, मूल्य ... ≡)
१७९–दैनिक कल्याण-सूत्र–पृष्ठ ९२, मूल्य ... ≡)
१८०–आदर्श नारी सुशीला–पृष्ठ ५६, मूल्य ... ≡)
१८१–आदर्श भ्रातृ-प्रेम–पृष्ठ १०४, मूल्य ... ≡)
१८२–मानव-धर्म–पृष्ठ ९६, मूल्य ... ≡)
१८३–गीता-निबन्धावली–पृष्ठ ८०, मूल्य ... =)॥
१८४–साधन-पथ–पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य ... =)॥
१८५–अपरोक्षानुभूति–पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य ... =)॥
१८६–मनन-माला–पृष्ठ ५६, मूल्य ... =)॥
१८७–नवधा भक्ति–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य ... =)
१८८–बाल-शिक्षा–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य ... =)
१८९–श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति–पृष्ठ४८,सचित्र,मू० =)
१९०–गीताभवन-दोहा-संग्रह–पृष्ठ ४८, मूल्य ... =)
१९१–वैराग्य-संदीपनी–सटीक–पृष्ठ २४,सचित्र,मूल्य =)
१९२–भजन-संग्रह–भाग १, पृष्ठ १९२, मूल्य ... =)
१९३– ,, –भाग २, पृष्ठ १६८, मूल्य ... =)
१९४– ,, –भाग ३, पृष्ठ २२८, मूल्य ... =)
१९५– ,, –भाग ४, पृष्ठ १६०, मूल्य ... =)
१९६– ,, –भाग ५, पृष्ठ १४४, मूल्य ... =)
१९७–बालप्रश्नोत्तरी–पृष्ठ २८, मूल्य ... –)॥
१९८–स्वास्थ्य-सम्मान और सुख–मूल्य ... –)॥
१९९–स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–पृष्ठ ५६, मूल्य ... –)॥
२००–नारीधर्म–पृष्ठ ४८, मूल्य ... –)॥
२०१–गोपीप्रेम–पृष्ठ ५२, मूल्य ... –)॥
२०२–मनुस्मृति–द्वितीय अध्याय, सटीक, मूल्य ... –)॥
२०३–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–पृष्ठ ३६,मू० –)॥
२०४–श्रीविष्णुसहस्रनाम सटीक–मूल्य ... –)॥
२०५–हनुमानबाहुक–पृष्ठ ४०, मूल्य ... –)॥
२०६–शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र–सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य –)॥
२०७–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श-शिक्षा–पृष्ठ ४०, –)।
२०८–मनको वश करनेके कुछ उपाय–पृष्ठ २४, –)।
२०९–ईश्वर–पृष्ठ ३२, मूल्य ... –)।
२१०–मूलरामायण–पृष्ठ २४, मूल्य ... –)।
२११–रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक–मू० –)।
२१२–विनय-पत्रिकाके बीस पद–पृष्ठ २४, मू० ... –)
२१३–सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन– –)
२१४–दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य–मूल्य ... –)
२१५–बाल-अमृत-वचन–मूल्य ... –)
२१६–हरेरामभजन १४ माला–मूल्य ... ।–)
२१७–हरेरामभजन ६४ माला–मूल्य ... १)
२१८–शारीरकमीमांसादर्शन–मूल्य ...)॥।
२१९–बलिवैश्वदेवविधि–मूल्य ...)॥
२२०–संध्या विधिसहित–पृष्ठ १६, मूल्य ...)॥
२२१–गोवध भारतका कलङ्क–मूल्य ...)॥
२२२–गायका माहात्म्य–पृष्ठ २०, मूल्य ...)॥
२२३–कुछ विदेशी वीर बालक-बालिकाएँ–
पृष्ठ १६, मूल्य ... ...)॥
२२४–बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश–पृष्ठ १६, मूल्य)॥
२२५–नारदभक्ति-सूत्र–पृष्ठ २४, मूल्य ...)।

Our English Publications

226. Bhagavadgita [with Sanskrit text and an English translation] 0-4-0
Bound 0-6-0

(By Jayadayal Goyandka)

227. Gems of Truth (First Series) 0-12-0
228. Gems of Truth (Second Series) 0-12-0
229. What is God ? 0-2-0
230. What is Dharma ? 0-0-9

(By Hanumanprasad Poddar)

231. The Philosophy of Love 1-0-0
232. Gopis' Love for Sri Krishna 0-4-0
233. Way to God-Realization 0-4-0
234. The Divine Name and Its Practice 0-3-0
235. Wavelets of Bliss 0-2-0
236. The Divine Message 0-0-9

(By Madan Mohan Malviya)

237. The Immanence of God 0-2-0

प्रचारके लिये विशेष सस्ती छोटी पुस्तकें

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें ४ पैकेट बनाये गये हैं—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥)
पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)
पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)
पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

पैकेटोंका विवरण जाननेके लिये सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

प्रत्येक चित्रावलीमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है।

साइज १५×२० नं० १, दाम २॥)
साइज १५×२० नं० २, दाम २॥)
साइज १५×२० नं० ३, दाम २॥)

प्रत्येक चित्रावलीमें १०×७॥ साइजके बढ़िया आर्ट पेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है।

साइज १०×७॥ नं० १, दाम १।-)
साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-)
साइज १०×७॥ नं० ३, दाम १।-)

श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १)

इसमें श्रीश्यामसुन्दरकी बाललीलाके ६० लाइन चित्र दोरंगे छापे गये हैं। प्रत्येक पृष्ठमें चित्रके अनुरूप सुन्दर चुने हुए पद-पदांश भी दिये गये हैं। साइज ५×७॥, पृष्ठ ६४, मूल्य ।=)।

अधिक चित्रावलियाँ एक साथ मँगवानेपर रेलवे स्टेशनका नाम अवश्य लिखें। चित्रावलियोंका विवरण जाननेके लिये चित्रावलि-सूची मुफ्त मँगवाइये।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

छान्दोग्योपनिषद् (उपनिषद्भाष्य खण्ड ३)

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और हिंदी-अनुवादसहित

छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। यह उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी वर्णनशैली अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म और उपासनाओंका बड़ा विशद वर्णन है, जिनके १५४ खण्ड और २५८ प्रकरण हैं। जगह-जगह आख्यायिकाएँ भी दी गयी हैं। ग्रन्थके अन्तमें अकारादिक्रमसे मन्त्रोंकी पूरी सूची २० पेजमें लगायी गयी है।

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ९६८, सुन्दर बहुरंगे ९ चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य केवल ३॥) डाकखर्च अलग।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान अहमदाबादमें भी खुल गयी है

पता—गाँधीमार्ग, चतुर्भुजभवन, अहमदाबाद

यहाँपर भी दिल्ली और पटनाकी तरह पर्याप्त स्टाक रखनेकी व्यवस्था की गयी है। गुजरात और काठियावाड़के पुस्तक-विक्रेताओंको यहाँसे ही मालगाड़ी अथवा रेलपारसलसे पुस्तकें मँगवानी चाहिये। इससे उन्हें माल शीघ्र मिल सकता है।

अधिक प्रचार करनेकी दृष्टिसे यहाँ फुटकर पुस्तकें बेचनेकी व्यवस्था भी की गयी है; परंतु डाकसे मँगवानेवालोंको तो गोरखपुरसे ही मँगवाना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण तथा कल्पतरुके पुराने विशेषाङ्कोंमें विशेष रियायत

कल्याण तथा कल्पतरुके पुराने विशेषाङ्कोंमें (चालू वर्षको छोड़कर) सब मिलाकर कम-से-कम १००) का माल एक साथ लेनेपर १५) प्रतिशत कमीशन तथा फ्री डिलेवरी दी जायगी।

कल्याणके प्राप्य विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६॥), सजिल्द ७॥) ।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द) पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०) ।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७॥) ।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७॥) ।

२८ वें वर्षका नारदविष्णुपुराणाङ्क—(केवल विशेषाङ्क) पृष्ठ ८००, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७॥) ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

THE KALYANA-KALPATARU

(SPECIAL NUMBERS FOR SALE)

Vol. XII Special Issue, The Gita-Tattva Number—I ... Rs. 2-8-0
(It contains 6 chapters from 1 to 6)

Vol. XIII Special Issue, The Gita-Tattva Number—II ... Rs. 2-8-0
(It contains 6 chapters from 7 to 12)

Vol. XIV Special Issue, The Gita-Tattva Number—III ... Rs. 2-8-0
(It contains 6 chapters from 13 to 18)

Vol. XV Special Issue, The Mānasa Number—I ... Rs. 2-8-0
(It contains the Bālakāṇḍa)

Vol. XVI Special Issue, The Mānasa Number—II ... Rs. 2-8-0
(It contains the Ayodhyā, Araṇya and Kiṣkindhā Kāṇḍas)

Vol. XVII Special Issue, The Mānasa Number—III ... Rs. 2-8-0
(It contains the Sundara, Lankā and Uttara Kāṇḍas)

The Manager—Kalyana-Kalpataru, P. O. Gita Press (Gorakhpur)

Note:—The Gītā-Tattva Numbers contain an exhaustive commentary on the *Gītā*. The Mānasa Numbers contain an English translation of *Śrī Rāmacharitamānasa* by Goswami Tulasidas.